कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : 9 भाग : 7

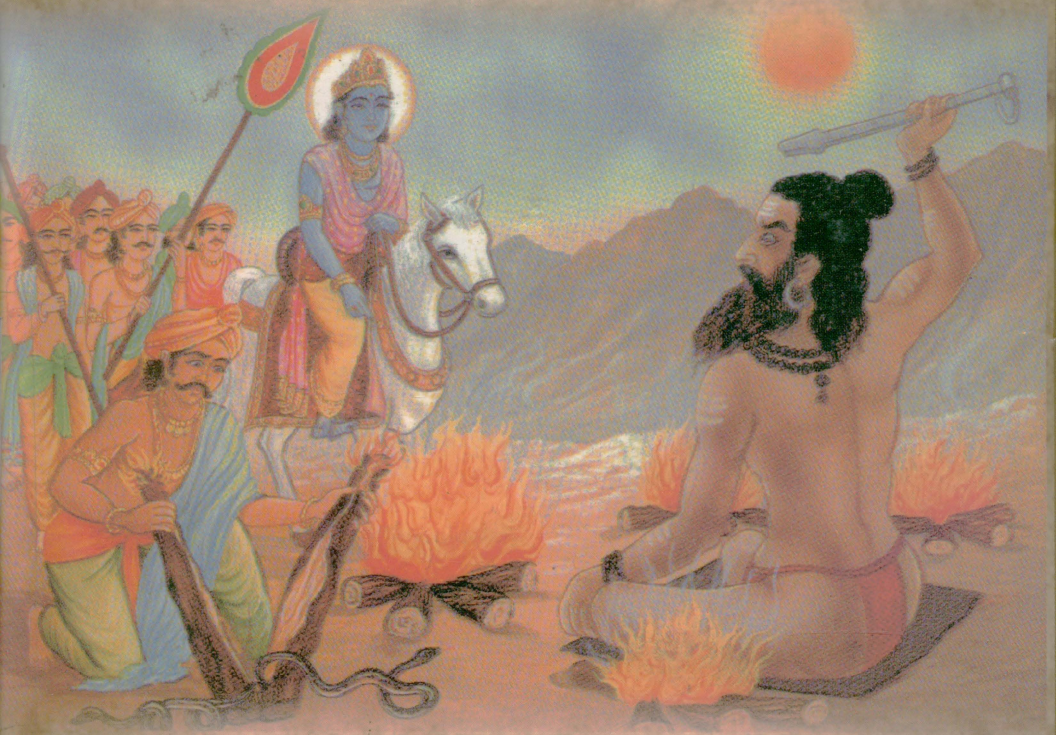

अनुवादिका

साध्वी डॉ. सुरेखाश्री

प्राकृत भारती पुष्प 359

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[हिन्दी अनुवाद]

पर्व : 9 भाग : 7

अनुवादिका

साध्वी डॉ. सुरेखाश्री

प्रकाशक

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर

प्रकाशक

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी,
13-ए, गुरुनानक पथ,
मालवीय नगर, जयपुर-302017
फोन : 0141-2524827, 2520230
E-mail : *prabharati@gmail.com*

अमृतलाल जैन
अध्यक्ष
श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर-344025
स्टेशन - बालोतरा
जिला - बाड़मेर (राजस्थान)
E-mail : *nakodatirth@yahoo.com*

प्रथम संस्करण 2016

ISBN No. : 978-93-81571-65-1

मूल्य : ₹ 150/- रुपये

© प्रकाशकाधीन

लेजर टाइप सेटिंग

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर

मुद्रकः

दी डायमण्ड प्रिंटिंग प्रेस, जयपुर

फोन. **0141-2562929**

Trishashtishalakapurushcharit

Sadhvi Dr. Surekha Shri/2016

Prakrit Bharati Academy, Jaipur

Shri Jain Sw. Nakoda Parshwanath Tirth, Mewanagar

प्रकाशकीय

त्रिषष्टि अर्थात् तिरेसठ शलाका पुरुष अर्थात् सर्वोत्कृष्ट महापुरुष। सृष्टि में उत्पन्न हुए या होने वाले जो सर्वश्रेष्ठ महापुरुष होते हैं वे शलाका–पुरुष कहलाते हैं। इस कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के आरकों में प्रत्येक काल में सर्वोच्च ६३ पुरुषों की गणना की गई है, की जाती थी और की जाती रहेगी। इसी नियमानुसार इस अवसर्पिणी में ६३ महापुरुष हुए हैं, उनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ वासुदेव, ९ प्रतिवासुदेव और ९ बलदेवों की गणना की जाती है। इन्हीं ६३ महापुरुषों के जीवन–चरितों का संकलन इस 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के अन्तर्गत किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे संस्कृत भाषा में १० पर्वों में विभक्त किया है जिनमें ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त ६३ महापुरुषों के जीवनचरित संगृहीत हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित ऐतिहासिक और पौराणिक ग्रन्थ त्रिषष्टिशलाकापुरुष–चरित के 'नवम पर्व' (हिन्दी भाग–७) को प्राकृत भारती अकादमी की पुष्प संख्या ३५९ के रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता हो रही है।

ग्रन्थ के इस भाग में तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के पूर्व भवों, विहार स्थल, उनका उपसर्ग, तपस्या, पारणे तथा ८ गणधरों व प्रमुख श्रावकों का वर्णन किया गया है। भगवान पार्श्वनाथ क्षमा और करुणा के अवतार रहे हैं। प्रत्येक भव में उन्होंने अपने प्रतिरोधी कमठ द्वारा जलाई गई उपसर्ग तथा उपद्रवों की अग्नि पर क्षमा की शीतल जल वर्षा की है और उसे 'क्षमा करो भूल जाओ' का पाठ पढ़ाने का प्रयत्न किया है। प्रभु पार्श्वनाथ के समय २०६

वृद्ध कुमारिकाओं की दीक्षा भिन्न–भिन्न नगरों की रहने वाली, जीवन भर अविवाहित रहकर वृद्धावस्था प्राप्त होने पर अनेक श्रेष्ठी कन्याओं ने समय–समय पर दीक्षा ली और तप संयम की आराधना की। पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म की स्थापना की। सम्मेत शिखर में निर्वाण का वर्णन किया है।

इन्हीं मानवीय मूल्यों से सुधी पाठकों में एक नये चिन्तन की वृद्धि होगी। प्रस्तुत पुस्तक के सरल, सटीक व प्रभावी हिन्दी भाषा में अनुवाद का कार्य साध्वी डॉ. सुरेखाश्री जी म.सा. द्वारा सम्पन्न किया गया है। आप द्वारा संयमकालीन जीवन में कई ग्रन्थों का लेखन व सम्पादन कार्य किया गया है। आपने डी.लिट् की उपाधि राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर से प्राप्त की है। आप जैसी विदुषी साध्वी द्वारा इस पुस्तक का अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ उसके लिए हम अत्यन्त आभारी हैं।

प्रकाशन से जुड़े सभी सहभागियों को धन्यवाद!

अमृत लाल जैन
अध्यक्ष,
श्री जैन श्वे. नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर, बाड़मेर

देवेन्द्रराज मेहता
संस्थापक एवं मुख्य संरक्षक
प्राकृत भारती अकादमी,
जयपुर

प्रस्तावना

आचार्य हेमचन्द्र १२वीं शताब्दी के एक अनुपमेय सरस्वती पुत्र, कहें तो अत्युक्ति न होगी। इनकी लेखनी से साहित्य की कोई भी विधा अछूती नहीं रही। व्याकरण, काव्य, कोष, अलंकार, छन्द–शास्त्र, न्याय, दर्शन, योग, स्तोत्र आदि प्रत्येक विधा पर अपनी स्वतन्त्र, मौलिक एवं चिन्तनपूर्ण लेखनी का सफल प्रयोग इन्होंने किया। आचार्य हेमचन्द्र न केवल साहित्यकार ही थे अपितु जैनधर्म के एक दिग्गज आचार्य भी थे। महावीर की वाणी के प्रचार–प्रसार में अहिंसा का सर्वत्र व्यापक सकारात्मक प्रयोग हो इस दृष्टि से वे चालुक्यवंशीय राजाओं के सम्पर्क में भी सजगता से आए और सिद्धराज जयसिंह तथा परमार्हत् कुमारपाल जैसे राजऋषियों को प्रभावित किया और सर्वधर्मसमन्वय के साथ विशाल राज्य में अहिंसा का अमारी पटह के रूप में उद्घोष भी करवाया। जैन परम्परा के होते हुए भी उन्होंने महादेव को जिन के रूप में आलेखित कर उनकी भी स्तवना की। हेमचन्द्र न केवल सार्वदेशीय विद्वान् ही थे; अपितु उन्होंने गुर्जर धरा में अहिंसा, करुणा, प्रेम के साथ गुर्जर भाषा को जो अनुपम अस्मिता प्रदान की यह उनकी उपलब्धियों की पराकाष्ठा थी।

महापुरुषों के जीवनचरित को पौराणिक आख्यान कह सकते हैं। इस विधा में पूर्व में आचार्य शीलांक ने 'चउप्पन–महापुरुष–चरियं' नाम से इन ६३ महापुरुषों के जीवन का प्राकृत भाषा में प्रणयन किया था। शीलांक ने ९ प्रतिवासुदेवों की गणना स्वतन्त्र रूप से नहीं की, अतः ६३ के स्थान पर ५४ महापुरुषों की जीवन गाथा ही उसमें सम्मिलित थी।

पौराणिक होते हुए भी आचार्य ने त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित नामक इस चरित–काव्य को साहित्यशास्त्र के नियमानुसार महाकाव्य के रूप में सम्पादित करने का अभूतपूर्व प्रयोग किया है और इसमें वे पूर्णतया सफल भी हुए हैं। यह ग्रन्थ छत्तीस हजार श्लोक परिमाण का है। इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र स्वयं ग्रन्थ प्रशस्ति में लिखते हैं–

'चेदि, दशार्ण, मालव, महाराष्ट्र, सिन्ध और अन्य अनेक दुर्गम देशों को अपने भुजबल से पराजित करने वाले परमार्हत् चालुक्यकुलोत्पन्न कुमारपाल राजर्षि ने एक समय आचार्य हेमचन्द्रसूरि से विनयपूर्वक कहा– 'हे स्वामिन्! निष्कारण परोपकार की बुद्धि को धारण करने वाले आपकी आज्ञा से मैंने नरक गति के आयुष्य के निमित्त–कारण मृगया, जुआ, मदिरादि दुर्गुणों का मेरे राज्य में पूर्णतः निषेध कर दिया है और पुत्ररहित मृत्यु प्राप्त परिवारों के धन को भी मैंने त्याग दिया है तथा इस पृथ्वी को अरिहन्त के चैत्यों से सुशोभित एवं मण्डित कर दिया है। अतः वर्तमान काल में आपकी कृपा से मैं सम्प्रति राजा जैसा हो गया हूँ। मेरे पूर्वज महाराजा सिद्धराज जयसिंह की भक्तियुक्त प्रार्थना से पंचांगीपूर्ण 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की। भगवन्! आपने मेरे लिए निर्मल 'योगशास्त्र' की रचना की और जनोपकार के लिए द्व्याश्रय काव्य, छन्दोऽनुशासन, काव्यानुशासन और नाम–संग्रहकोष प्रमुख अन्य ग्रन्थों की रचना की। अतः हे आचार्य! आप स्वयं ही लोगों पर उपकार करने के लिए कटिबद्ध हैं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे जैसे मनुष्य को प्रतिबोध देने के लिए ६३ शलाका–पुरुषों के चरित पर प्रकाश डालें।'

इससे स्पष्ट है कि राजर्षि कुमारपाल के आग्रह से ही आचार्य हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की रचना उनके अध्ययन हेतु की थी। पूर्वांकित ग्रन्थों की रचना के अनन्तर इसकी रचना होने से इसका रचनाकाल विक्रम संवत् १२२० के निकट ही स्वीकार्य होता है। यह ग्रन्थ हेमचन्द्राचार्य की प्रौढ़ावस्था की रचना है और इस कारण इसमें उनके लोकजीवन के अनुभवों तथा मानव स्वभाव की गहरी पकड़ की झलक मिलती है। यही कारण है कि काल की इयत्ता में बन्धी पुराण कथाओं में इधर–उधर बिखरे उनके विचारकण कालातीत हैं। यथा– शत्रु भावना रहित ब्राह्मण, बेईमानी रहित वणिक्, ईर्ष्या रहित

प्रेमी, व्याधि रहित शरीर, धनवान–विद्वान्, अहंकार रहित गुणवान, चपलता रहित नारी तथा चरित्रवान् राजपुत्र बड़ी कठिनाई से देखने में आते हैं।

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के प्रथम पर्व में ६ सर्ग हैं, जिनमें भगवान ऋषभदेव एवं भरत चक्रवर्ती का जीवनचरित गुंफित है। द्वितीय पर्व में भी ६ सर्ग हैं, जिनमें भगवान अजितनाथ एवं द्वितीय चक्रवर्ती सगर का सांगोपांग जीवनचरित है। इन दोनों पर्वों का हिन्दी अनुवाद दो भागों में प्राकृत भारती के पुष्प ६२ एवं ७७ के रूप में प्राकृत भारती द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं।

तृतीय भाग में पर्व ३ और ४ संयुक्त रूप में प्रकाशित हो चुके हैं। तृतीय पर्व में ८ सर्ग हैं जिनमें क्रमशः भगवान् संभवनाथ से लेकर दसवें भगवान् शीतलनाथ तक के जीवनचरित हैं। चतुर्थ पर्व में ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ से लेकर १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ तक, तीसरे–चौथे चक्रवर्ती, ५ वासुदेव, ५ बलदेव और ५ प्रतिवासुदेवों का विस्तृत जीवनचरित है। यह तीसरा भाग भी प्राकृत भारती की ओर से मार्च, १९९२ में प्रकाशित हो चुका है।

चतुर्थ भाग में पर्व ५ और ६ संयुक्त रूप से प्रकाशित हो चुके हैं। पाँचवें पर्व में ५ सर्ग हैं जिनमें सोलहवें तीर्थंकर एवं पंचम चक्रवर्ती भगवान् शान्तिनाथ का विशद जीवन वर्णित है। छठे पर्व में ८ सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में– सतरहवें तीर्थंकर एवं छठे चक्रवर्ती कुन्थुनाथ का, दूसरे सर्ग में– अठारहवें तीर्थंकर और सातवें चक्रतर्वी प्रभु अरनाथ का, तीसरे सर्ग में– छठे बलदेव आनंद, वासुदेव पुरुषपुण्डरीक, प्रतिवासुदेव बलिराजा का, चौथे सर्ग में आठवें चक्रवर्ती सुभूम का, पाँचवें सर्ग में–सातवें बलदेव नन्दन, वासुदेव दत्त, प्रतिवासुदेव प्रह्लाद का, छठे सर्ग में–उन्नीसवें तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथ का, सातवें सर्ग में–बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी का और आठवें सर्ग में–नौवें चक्रवर्ती महापद्म के सविस्तार जीवन–चरित्र का अङ्कन हुआ है। यह चौथा भाग प्राकृत भारती के पुष्प ८४ के रूप में प्राकृत भारती की ओर से सितम्बर, १९९२ में प्रकाशित हो चुका है।

पाँचवें भाग में पर्व सातवाँ प्रकाशित किया गया है जो जैन रामायण के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर्व में तेरह सर्ग हैं। प्रथम सर्ग से दसवें सर्ग तक

जैन रामायण का कथानक विस्तार से गुंफित है। इन सर्गों में राक्षसवंश और वानरवंश की उत्पत्ति से लेकर आठवें बलदेव मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र, वासुदेव लक्ष्मण, प्रतिवासुदेव रावण, महासती सीता, चरम शरीरी महाबली हनुमान, सती अंजना सुन्दरी, आदि के जीवन का विस्तार के साथ सरस चित्रण है। ग्यारहवें सर्ग में– इक्कीसवें तीर्थंकर विभु नमिनाथ, बारहवें सर्ग में– दसवें चक्रवर्ती हरिषेण का और तेरहवें सर्ग में– ग्यारहवें चक्रवर्ती जय का वर्णन है।

छठे भाग में पर्व आठवाँ प्रकाशित किया गया है। इस पर्व में १२ सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में नेमिनाथ के पूर्वभव का वर्णन द्वितीय सर्ग में मथुरा यदुवंश वसुदेव का चरित्र, तृतीय सर्ग में कनकवती का विवाह एवं नलदमयंती का चरित्र, चतुर्थ सर्ग में विद्याधर व वसुदेव वर्णन, पंचम सर्ग में बलराम, कृष्ण तथा अरिष्टनेमि के जन्म, कंस का वध और द्वारका नगरी की स्थापना, षष्ठम सर्ग में रुक्मिणी आदि स्त्रियों के विवाह, पाण्डव द्रोपदी का स्वयंवर और प्रद्युम्न चरित्र, सप्तम सर्ग में शांब और प्रद्युम्न के विवाह एवं जरासंध का वध, अष्टम सर्ग में सागरचन्द्र का उपाख्यान, उषाहरण और बाणासुर का वध, नवम सर्ग अरिष्टनेमि का कौमार क्रीड़ा–दीक्षा–केवलोत्तपत्ति वर्णन, दशम सर्ग में द्रोपदी का प्रत्याहरण और गजसुकुमाल आदि का चरित्र, ग्यारहवें सर्ग में द्वारका दहन और कृष्ण का अवसान, बारहवें सर्ग में बलदेव का स्वर्गगमन और श्री नेमिनाथजी का निर्वाण आदि का वर्णन है। इस प्रकार भाग–६, पर्व–८ में एक तीर्थंकर, १ वासुदेव तथा तीन प्रतिवासुदेव, कृष्ण, बलभद्र तथा जरासंध आदि महापुरुषों के चरित्रों का कथाओं के माध्यम से समावेश हुआ है।

प्रस्तुत सातवें भाग में पर्व नवाँ प्रकाशित किया जा रहा है। इस पर्व में भगवान पार्श्वनाथ और उनके समय के विविध राजाओं, मन्त्रियों, श्रेष्ठियों, श्रावकों के विशिष्ट वृत्तान्त तथा प्रसंगों का वर्णन जैन इतिहास ग्रन्थ की तरह किया गया है। पद्मावती, कमठ, गणधर, शुभदत्त, आर्य हरिदत्त, केशीश्रमण आदि के विशिष्ट वर्णन किये गये हैं।

पार्श्वनाथ का विवाह प्रभावती के साथ हुआ। तापस द्वारा जलाई अग्नि में से नाग–नागिन को जीवित निकाला जो कि प्राण त्यागकर भवनवासी देव इन्द्र–धरणेन्द्र तथा पद्मावती हुए। जिन्होंने सदैव प्रभु पार्श्व की सेवा की। इस घटना के पश्चात् प्रभु पार्श्व ने 'अज्ञान एवं पाखण्डों के चक्कर में पड़ी भोली जनता को धर्म का सच्चा मार्ग दिखाया।'

राजा कुमारपाल के आग्रह पर हेमचन्द्राचार्य ने जैन साहित्य में इस अलौकिक ग्रन्थ की रचना ३९००० श्लोक में की लेकिन काल पर्यन्त आज ३१२८२ श्लोक ही शेष प्रस्थापित हुए। इस ग्रन्थ के अनेक ताड़पत्र अलग–अलग ज्ञान भण्डारों में उपलब्ध है लेकिन सर्वप्रथम इसे संग्रहित व एकत्रित रूप में श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर से वि.सं. १९९५ में प्रकाशित किया गया इसके पश्चात् इसका सम्पादन श्री चरणविजयजी ने किया किन्तु कार्य पूर्ण होने से पूर्व ही उनका कालधर्म (देवलोक) हो गया फिर मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इस कार्य को पूर्ण किया।

जयपुर चातुर्मास के दौरान प्राकृत भारती अकादमी से प्रकाशित त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित के प्रथम भाग पर साध्वीश्रीजी ने प्रश्नोत्तरी निकाली थी। उसी समय उन्होंने आगे के भागों का स्वाध्याय भी किया और पूछा कि संस्था से आगे के भाग कब तक प्रकाशित होंगे किन्तु हमारी ओर से असमर्थता जाहिर की गई। श्री गणेश ललवानी सा., जिन्होंने अपने अथक प्रयासों से यहाँ तक का अनुवाद किया वे अब इस दुनिया में नहीं रहे। तत्पश्चात् आदरणीय श्री डी.आर.मेहता सा. ने सीकर के एक संस्कृत विद्वान् पं. मांगीलालजी मिश्र को इस ग्रन्थ की मूल संस्कृत प्रति दी किन्तु एक–दो वर्ष वे अन्य कार्यों में व्यस्त रहे तत्पश्चात् उनका भी निधन हो गया। इसलिए साध्वीजी से अनुरोध किया कि आप आठवें, नवें व दसवें पर्व का अनुवाद कार्य कर देवें ताकि यह ग्रंथ जन–मानस तक स्वाध्याय हेतु पहुँच सके। आपश्री ने इस अनुरोध को स्वीकारते हुए इस कार्य को सम्पन्न किया। एकाग्रता व शांतचित्त से किये गये इस अनुवाद के लिए प्राकृत भारती अकादमी एवं श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ, मेवानगर आपके हृदय से आभारी हैं।

— डॉ० रीना जैन (बैद)

ॐ नेमिनाथाय नमः

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

(नवम पर्व)

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य रचित

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित

[नवम् पर्व]

सर्ग १

श्री ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का चरित्र

श्री नेमिनाथ प्रभु को नमस्कार करके उनके तीर्थ में जन्मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का चरित्र चित्रण अब किया जा रहा है। इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में साकेतपुर नाम का नगर है। उसमें पूर्वकाल में चंद्रावतंस नामक राजा के मुनिचंद्र नाम का पुत्र था। उसने कामभोगों से निर्वेद प्राप्त कर जैसे भारवाही मनुष्य भार को त्याग देता है, वैसे ही संसार का त्याग करके सागरचन्द्र नामक मुनि के पास व्रत ग्रहण किया। एक समय दीक्षा की परिपालना करते हुए वे जगत्पूज्य मुनि गुरु के साथ देशांतर में विचरण करने चल दिये। मार्ग में भिक्षा के लिए वे एक गांव में गए। वहाँ उनके रुक जाने से और सार्थ के चले जाने से यूथ से बिछुड़े मृग की भांति वे सार्थभ्रष्ट होकर अटवी में इधर उधर भटकने लगे।

(गा. 1 से 5)

वहाँ क्षुधा और तृषा से आक्रान्त होकर ग्लानि को पाने लगे। इतने में उनको चार ग्वाले मिले, उन्होंने बंधुओं के समान उनकी सेवा की। मुनि ने उनके उपकार के लिए देशना दी, क्योंकि सत्पुरुष अपकारी पर भी कृपावंत होते हैं, तो उपकारी पर क्यों नहीं हों? मानो चतुर्विध धर्म की चारों प्रतिमूर्ति हो वैसे समतावाले उन चारों ग्वालों ने उनकी देशना श्रवण करके उनके पास दीक्षा ली। उन चारों मुनियों ने भी सम्यग् प्रकार से व्रत की परिपालना की। परन्तु उनमें से दो ने धर्म की जुगुप्सा की। "प्राणियों की मनोवृत्ति विचित्र होती

है।'' यद्यपि उन्होंने धर्म की जुगुप्सा की थी, तथापि वे तपस्या के प्रभाव से देवलोक में गये कारण ''एक दिन का तप भी स्वर्ग प्राप्ति करा देता है।''

(गा. 6 से 10)

देवलोक से च्युत होकर वे दोनों दशपुर नगर में शांडिल्य नामक ब्राह्मण की जयवती नाम की दासी से युगलपुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। अनुक्रम से उन्होंने यौवन को प्राप्त किया। तब पिताजी की आज्ञा से वे क्षेत्र की रक्षा करने हेतु गए। ''दासी पुत्रों का तो यही काम है।'' रात्रि में वे दोनों खेत में ही सो गए। इतने में एक बड़ के वृक्ष की कोटर में से निकल कर मानो वह यमराज का बंधु हो वैसे एक कृष्णसर्प ने उन दोनों में से एक को डंसा। पश्चात् सर्प दूसरे भाई को शोधने लगा। तब मानो पूर्व का बैरी हो वैसे उस दुष्ट सर्प ने उसको भी डंस लिया। उस डंक का प्रतिकार न होने से वे दोनों मृत्यु को प्राप्त हुए। मनुष्यरूप में जैसे आये थे, वैसे ही चले गए। उनके निष्फल जन्म को धिक्कार है। वहाँ से मृत्यु को प्राप्त कर कालिंजरगिरि के शिखर पर एक मृगणी (हिरण) के उदर से वे दोनों मृगरूप में उत्पन्न हुए। वे दोनों प्रीति से साथ–साथ घूमते फिरते थे। इतने में एक शिकारी ने एक ही बाण के द्वारा समकाल में उन दोनों को मार डाला। वहाँ से मृत्यु प्राप्त करके गंगा नदी के किनारे एक राजहंसी के उदर से पूर्व की भांति युगलिया रूप में उत्पन्न हुए। एक बार वे दोनों साथ साथ में क्रीड़ा कर रहे थे, इतने में किसी मछुआरे ने जाल बिछाकर उनको पकड़ लिया और उनकी ग्रीवा पकड़कर उनको मार डाला। ''धर्महीन की प्रायः ऐसी ही गति होती है।'' वहाँ से मृत्यु प्राप्त कर काशीपुरी में भूतदत्त नाम के समृद्धिवान् चांडाल के घर चित्र और संभूत नामके दो पुत्र हुए। दोनों में परस्पर अत्यंत स्नेह होने से वे कभी भी एक दूसरे से जुदा नहीं होते थे। नख और मांस जैसा उनका दृढ़ संबंध था।

(गा. 11 से 21)

उस समय वाराणसी नगरी में शंख नामका राजा था, उसके नमुचि नाम का प्रधान था। एक समय उस नमुचि प्रधान से कोई बड़ा अपराध हो गया, इससे राजा ने उसे गुप्त रीति से मारने के लिए भूतदत्त चांडाल

को सौंप दिया। उसने नमुचि से कहा कि यदि तुम मेरे पुत्रों को भूमिगृह (तलघर) में रहकर गुप्त रीति से पढ़ाओ तो मैं मेरी आत्मा के समान तेरी गुप्त रीति से रक्षा करूँ। नमुचि ने मातंगपति का यह वचन मान्य किया, क्योंकि मनुष्य जीवन के लिए क्या न करें? पश्चात् नमुचि चित्र और संभूत को विचित्र कलाओं का अभ्यास कराने लगा। कुछ दिनों में वह नमुचि अनुरागी हुआ। उस चांडाल की स्त्री के साथ रमण करने लगा। इस बात की जानकारी होने पर भूतदत्त ने उसे मारने का निश्चय किया। अपनी स्त्री के साथ व्याभिचार करने वाले व्याभिचारी का दोष कौन सहन करे? इसकी जानकारी चित्र और संभूत को होने पर उन चांडाल पुत्रों ने भय बताकर नमुचि को भगाकर उसके प्राणरक्षण रूप विद्याभ्यास की दक्षिणा उन्होनें दी। वहाँ से भागकर वह नमुचि हस्तिनापुर में आया। वहाँ सनत्कुमार चक्री ने उसे प्रधान बनाया।

(गा. 22 से 29)

इधर चित्र और संभूत नवयौवन वय को प्राप्त हुए, मानों अश्विनी कुमार किसी हेतु से पृथ्वी पर आए हों, ऐसे दिखने लगे। हा हा और हूहू गंधर्व को भी उपहास्य करे, ऐसा अति मधुर गीत वे गाने लगे और नारद तथा तुंबरु का भी तिरस्कार करे ऐसी वीणा बजाने लगे। जब वे गीतप्रबंध का अनुसरण करके अति स्पष्ट ऐसे सात स्वरों से वीणा वादन करते थे, तब किन्नर भी उनके किंकर हो जाते थे। धीर घोषणा से जब वे मृदंग को बजाते थे, तब मुरली का नाद करनेवाले कृ ष्ण की भी विडंबना करते थे। शंकर, पार्वती, उर्वशी, रंभा मुंजकेशी और तिलोत्तमा भी जिस नाट्य को नहीं जानती थी, वे उस नाट्य का अभिनय करते थे। सर्व गांधर्व का सर्वस्व और विश्व को मोहक अपूर्व संगीत का प्रकाश करते हुए वे सर्व के मन का हरण करने लगे।

(गा. 30 से 35)

एक समय उस नगरी में मदनोत्सव का प्रवर्तन हुआ, तब संगीत के रसिक होकर नगरजन नगर से बाहर निकले। उस समय चित्र और संभूत

भी गाते गाते उसी तरफ निकल गये। उनके गीतों से आकर्षित होकर मृगों के सदृश पुरजन एकत्रित हो गए। उस समय किसी ने राजा के पास आकर कहा कि इन दोनों चांडालों ने अपने नगर जनों को गीतों से आकर्षित करके अपने समान मलिन कर दिया है। तत्काल राजा ने कोतवाल को बुलाकर आक्षेप पूर्वक हुक्म किया कि – ''इन दोनों चांडालों को नगरी के किसी भी प्रदेश में घुसने नहीं देना।'' कोतवाल ने उनको जानकारी दी, फलस्वरूप वे उस दिन से वाराणसी से दूर रहने लगे। एक बार वाराणसी में कौमुदी उत्सव आया, तब इंद्रियों की चपलता से उन्होंने राजा के शासन का उल्लंघन करके जैसे भ्रमर हाथी के गंड स्थल मे प्रवेश करता है वैसे उन्होंने उस नगरी में प्रवेश किया। सर्व अंग पर बुरखा डालकर उत्सव को देखने के लिए वे चोर की भांति सम्पूर्ण नगरी में गुप्त रीति से घूमने लगे। घूमते घूमते जैसे सियार दूसरे सियार के साथ शब्द मिलाकर बोलता है, वैसे ही नगरजनों के गीतों के साथ अपना स्वर मिलाकर वे तारस्वर से गाने लगे। क्योंकि ''भवितव्यता का उल्लंघन करना अशक्य है।'' कान को अत्यन्त मधुर लगे ऐसा उनका गीत सुनकर जैसे मधु पर मक्खियां मंडराती हैं, वैसे ही नगरजन उन के चारों ओर घूमने लगे। पश्चात् ये दोनों कौन हैं? यह जानने के लिए लोगों ने उनके शरीर से बुरखे खींच लिए। तब अरे ये तो वे चांडाल ही हैं, ऐसे आक्षेपपूर्वक वे बोल उठे। पश्चात् नगरजन लकडियों और पत्थरों से उनको कूटने लगे। तब घर में से श्वान की तरह वे गर्दन नीची करके नगर से बाहर निकल गये। लोगों और बालकों के समूह से मार खाते हुए वे मुश्किल से धीरे–धीरे गंभीर उद्यान में आये। वहाँ स्थित रहकर वे विचार करने लगे कि सर्प ने सूंघा हो, ऐसे दूध की तरह हीनजाति से दूषित ऐसी अपनी कला, कौशल्य और रूप को धिक्कार है! हमारा गायन आदि से किया उपकार हमें अपकार रूप हासिल हुआ है। शांति कार्य करते हुए उलटे बे–ताल उत्पन्न हो गया और सर्व अनर्थ का कारण तो यह शरीर ही है, इसलिए इसे किसी भी प्रकार तृण के समान त्याग देना चाहिए। ऐसा निश्चय करके प्राण त्यागने में तत्पर हुए। वे मानो साक्षात् मृत्यु को देखने जाते हो, वैसे दक्षिण दिशा की ओर चल दिये।

(गा. 36 से 51)

बहुत दूर जाने पर उनको एक विशाल गिरि (पर्वत) दिखाई दिया। वह इतना ऊँचा था कि उसके ऊपर चढ़ने पर पृथ्वी पर रहा बड़ा हाथी भी बच्चा जैसा दिखाई देता था। तब भृगुपात (भैरव जव) करने की इच्छा से वे उस पर्वत पर चढे। वहाँ गुण के जंगमगिरि रूप एक महामुनि उनको दृष्टिगत हुए उन मुनि को देखकर उनके संताप का प्रसार नाश हो गया। आनंदाश्रु के बहाने से मानो पूर्व के दुःख को छोड़ देते हों, वैसे वे भ्रमर की भांति सद्य उनके चरणकमल में गिर पड़े। मुनि ने ध्यान समाप्त करके उनको कहा कि तुम दोनों कौन कैसे हो? और यहाँ पर क्यों आए हो? उन्होंने अपना सर्व वृत्तान्त मुनि श्री को कह सुनाया। मुनि ने कहा भृगुपात करने से तुम्हारे शरीर का नाश होगा, परन्तु सैंकड़ों जन्मों से उपार्जन किए हुए तुम्हारे अशुभ कर्मों का नाश नहीं होगा। यदि तुमको इस शरीर का त्याग ही करना हो तो स्वर्ग और मोक्षादि के कारण रूप परम तप करके इस शरीर का फल ग्रहण करो। इत्यादि देशनावाक्य रूप अमृत से जिनका मन धुलकर निर्मल हुआ है ऐसे, उन दोनों ने तत्काल उन मुनि के पास यति धर्म ग्रहण किया। अनुक्रम से शास्त्रों का अध्ययन करके वे दोनों गीतार्थ हुए। मनस्वीजन जिसका ग्रहण करने में आदर करे, उसका ग्रहण क्यों न हो? छट्ठ (बेला), अट्ठम (तेला) आदि दुस्तर तप करके उन्होंने पूर्व कर्म के साथ अपने शरीर को शोषित कर दिया। पश्चात् एक शहर से दूसरे शहर और ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए वे किसी समय हस्तिनापुर के समीप आये। वहाँ नगर के बाहर उद्यान में रहकर उन्होंने दुस्तर तप करना चालू कर दिया। "शांत चित्तवाले मनुष्यों को संयोग की भूमि भी तपस्या के लिए हो जाती है।"

(गा. 52 से 63)

एक समय मानो शरीरधारी यतिधर्म हो वैसे संभूत मुनि ने मासक्षमण के पारणे पर हस्तिनापुर में भिक्षा लेने के लिए प्रवेश किया। ईर्यासमिति पूर्वक घर–घर भ्रमण करते हुए वे मुनि मार्ग में नमुचि मंत्री को दिखाई दिये। तब "यह चांडाल–पुत्र मेरा वृत्तांत जाहिर कर देंगे," ऐसी मंत्री के

चित्त में चिंता उत्पन्न हो गई। क्योंकि ''पापी जन सर्वत्र शंकित होते ही हैं।'' जब तक ये मेरे मर्म को प्रकाशित न करे।

(गा. 64 से 66)

तब तक मैं इनको नगर से बाहर निकालत्वा दूँ, ऐसी आज्ञा दी। तब उन सेवकों ने मंत्री के उन पूर्वोपकारी को मारना आरम्भ किया। ''दुर्जन पर उपकार करना सर्प को दूध पिलाने जैसा होता है।'' जैसे धान्य के पुंज को कूटते हैं, वैसे सेवकों ने मुनि को कूटा तब वे वहाँ से वन में जाने के लिए जल्दी जल्दी चलने लगे। तथापि उन्होंने उनको नहीं छोड़ा। निरूपाय उन मुनि को शांत होने पर भी कोप चढ़ गया, क्योंकि अग्नि के ताप से शीतल जल भी उष्ण हो जाता है। उसी समय मुनि के मुख में से अकाल में उत्पन्न हुए मेघों में से बिजली के समान तेजोलेश्या उत्पन्न हो गई। वह बिजली के मंडल की भांति आकाश को प्रकाशित करती बड़ी बड़ी ज्वालाओं से उल्लसित होने लगी। इस प्रकार क्रोध से तेजोलेश्या को धारण करते मुनि को प्रसन्न करने के लिए नगर जन भय से और कौतुक से वहाँ आए। राजा सनत्कुमार भी यह हकीकत सुनकर वहाँ आ पहुँचे, क्योंकि ''सद्बुद्धि वाले पुरुष को जहाँ से अग्नि उठे, वहाँ से ही बुझा देनी चाहिये।'' राजा संभूतिमुनि को नमस्कार करके बोले, ''हे भगवन्! आपको ऐसा करना क्या उचित है?'' चंद्रकांति मणि सूर्य की किरणों से तपने पर भी वह अपनी शीतल कांति को छोड़ती नहीं है। इन सेवकों ने आपका जो अपराध किया, इससे आपको कुपित होना संभव है। क्योंकि क्षीरसागर का मंथन करने पर क्या कालकूट विष उत्पन्न नहीं हुआ? परंतु सत्पुरुषों का क्रोध दुर्जनों के स्नेह जैसा होता है, अर्थात् सत्पुरुषों को कभी क्रोध आता ही नहीं और यदि आ भी जाए तो वह दीर्घ काल तक रहता नहीं है। यदि कदापि रहता है, तो वह निष्फल होता है और उसका फल नहीं मिलता। इस विषय में आपको अधिक क्या कहूँ? मैं तो आपको प्रार्थना करके कह रहा हूँ, कि आप कोप छोड़ दो। क्योंकि आपके जैसे पुरुष अपकारी और उपकारी दोनों में समदृष्टि रखते हैं।

(गा. 67 से 78)

उसी समय यह समाचार जानकर चित्रमुनि भद्रहस्ति की भांति मधुर संभाषण द्वारा शांत करने के लिए संभूतमुनि के समीप आए। इसके पश्चात् मेघ के जल की बाढ़ से जैसे पर्वत का दावानल बुझ जाता है, वैसे ही चित्रमुनि के शास्त्रानुसारी वचनों से संभूतमुनि का कोप शांत हो गया। तीव्र क्रोध और तप से मुक्त हुए वे महामुनि क्षय से पूर्णिमा के चंद्र के समान प्रसन्नता को प्राप्त हुए। फिर सभी लोग उनको वंदना करके खमाकर वहाँ से वापिस लौटे। चित्रमुनि संभूतमुनि को उद्यान में ले गये। वहाँ जाने के पश्चात् वे पश्चात्ताप करने लगे कि मात्र आहार के लिए घर घर भ्रमण करने के कारण दुःख का सामना करना पड़ता है। इस शरीर का आहार से पोषण करने पर भी परिणामस्वरूप अंत में तो नाशवंत है। तब योगियों को शरीर की एवं आहार की क्या जरूरत है? ऐसा चित्त में निश्चय करके संलेखना पूर्वक दोनों मुनियों ने चतुर्विध आहार का ही पच्चक्खाण (त्याग) कर लिया।

(गा. 79 से 85)

इधर सनत्कुमार राजा ने आदेश दिया कि मेरे होने पर भी उन साधु को जिसने पराभव किया हो, उन्हें खोजकर लाओ। तब किसी ने आकर नमुचि मंत्री के लिए सूचित कर दिया। पूज्यजनों की जो पूजा करता नहीं वरन् इससे विपरीत उनका हनन करता है, वह महापापी है। ऐसा कह राजा ने नमुचि को चोर की भांति बांधकर बुलवाया। अब कोई भी इस प्रकार साधु का पराभव नहीं करे, ऐसा विचार करके शुद्ध बुद्धि वाले सनत्कुमार चक्रवर्ती ने बंधन की स्थिति में ही नगर के मध्य में उसे घुमाकर मुनि के पास लेकर आए। नमन करते हुए राजा ने दोनों मुनियों को वंदना की। तब वाम हाथ से मुखवस्त्रिका द्वारा मुख को ढंकते हुए और दक्षिण भुजा को ऊंचा करते हुए वे दोनों मुनि बोले कि जो अपराधी होता है, वह स्वयमेव अपने कर्म के फल का भाजन होता है। फिर सनत्कुमार राजा ने उन मुनि को नमुचि मंत्री को बताया। उस बंधनग्रस्त नमुचि को गरूढ़ को सर्प के समान सनत्कुमार से पंचत्व के योग्य भूमिका को प्राप्त हुए, उसे मुनियों ने छुड़ा दिया। तब उस कर्मचांडाल को जातिचांडाल के समान राजा ने नगर से बाहर निकाल दिया, क्योंकि गुरु का शासन मानने योग्य है। इधर चौंसठ

हजार पत्नियों का परिवार लेकर उस चक्रवर्ती का स्त्रीरत्न सुनंदा मुनियों को वंदन करने के लिए आई। वहाँ पर संभूतमुनि के चरणकमल में केशराशि को ललित करती और मुख से पृथ्वी को चंद्रवाली रचती सुनंदा उनके चरणकमल में नमन करने लगी। उस राजरमणी के केश का स्पर्श होते ही संभूतमुनि तत्काल ही रोमांचित हो गए। कारण कि कामदेव निरंतर छल की ही शोध करता है। राजा सनत्कुमार तो उन मुनियों को वंदन करके आज्ञा लेकर अंतः पुर सहित वहाँ से अपने स्थानक पर आ गये।

(गा. 86 से 96)

उनके जाने के पश्चात् कामराग से पराभव को प्राप्त हुए संभूतमुनि ने इस प्रकार नियाणा किया कि यदि जो मेरे किए इस दुष्कर तप का फल हो तो मैं भावी जन्म में ऐसी स्त्रीरत्न का पति बनूँ। चित्रमुनि बोले कि अरे भद्र! इस मोक्ष दायक तप का फल ऐसा क्यों चाहते हो? मुकुट के योग्य ऐसे रत्न से चरणपीठ क्यों बनाते हो? मोह के वशीभूत होकर ऐसा नियाणा अभी भी तुम छोड़ दो और तुम्हारा यह नियाणा मिथ्या दुष्कृत हो, क्योंकि आपके जैसे मनुष्य मोह से बैचेन नही हैं। "अहो! विषय इच्छा महाबलवान् है!" पश्चात् दोनों मुनि परिपूर्ण अनशन को पालकर आयुष्य कर्म का क्षय करके मृत्यु को प्राप्त करके सौधर्म देवलोक में सुंदर नामक विमान में देव बने।

(गा. 97 से 102)

चित्र का जीव पहले देवलोक से च्यवकर पुरिमताल नगर में एक धनाढ्य वणिक का पुत्र हुआ और संभूत का जीव वहाँ से च्यवकर कांपिल्य नगर के ब्रह्मराजा की स्त्री चुलनी देवी के उदर में अवतरित हुआ। चौदह महास्वप्न जिन्होंने चक्रवर्ती का वैभव सूचित किया है, ऐसा वह सुवर्ण के वर्णवाला और सात धनुष जैसी ऊँची काया वाला हुआ। ब्रह्म के समान आनंद से ब्रह्मराजा ने ब्रह्मांड में ब्रह्मदत्त उसका नाम रखा। जगत् को नेत्ररूपी कुमुद से हर्षित करता और कला के कलाप से पोषण करता, वह निर्मल चंद्रमा के समान वृद्धिंगत होने लगा।

(गा. 103 से 107)

ब्रह्मा के चतुर्मख के समान उसके भी चार प्रियमित्र थे। पहला काशी देश का राजा कटक, दूसरा हस्तिनापुर का राजा कणेरदत्त, तीसरा कौशलदेश का राजा दीर्घ और चौथा चंपानगरी का राजा पुष्पचूल था। ये पांचों ही मित्र स्नेह से नंदनवन में कल्पवृक्षों के समान अपने अंतःपुर के साथ एक–एक नगर में एक–एक वर्ष रहते थे। एक बार वे बारी के अनुसार ब्रह्मराजा के नगर में एकत्रित हुए। वहाँ क्रीड़ा करते हुए काल व्यतीत हुआ। ब्रह्मदत्त को जब बारह वर्ष पूर्ण हुए उस समय ब्रह्मराजा मस्तक वेदना से परलोक सिधार गए। ब्रह्मराजा की उत्तरक्रिया करके मूर्तिमान चारों उपाय जैसे वे कटक आदि चारों मित्र इस प्रकार विचार करने लगे कि ''अपने मित्र ब्रह्मराजा का कुमार यह ब्रह्मदत्त जब तक बालक है, तब तक हममें से एक–एक जन को एक–एक वर्ष पहरेदार के समान उसकी और राज्य की रक्षा के लिए यहाँ रहना योग्य है।'' ऐसा निर्णय करके प्रथम दीर्घ राजा उस मित्र के राज्य की रक्षा करने के लिए वहाँ रहे। बाकी तीनों ही मित्र अपने राज्य में चले गए। तब बुद्धिभ्रष्ट हुआ दीर्घ राजा रक्षक बिना के क्षेत्र को जैसे सांढ भोगता है, वैसे ब्रह्मराजा के राज्य की समृद्धि को स्वच्छंद होकर भोगने लगा। वह मूढ़ बुद्धि दूसरे के मर्म को दुर्जन लोग खोजते हैं, वैसे लंबे समय से गुप्त रहे कोश (भंडार) को खोजने लगा। ''मनुष्यों को आधिपत्य ही अधर्मकारक है।''

(गा. 108 से 118)

एक वक्त कामदेव के बाण से बेधे हुए, दीर्घराजा ने चुलनी देवी के साथ एकांत में ब्रह्मदत्त के विवाह के बहाने अतिमात्र मसलत की। उसमें उन्होंने ब्रह्मराजा के सुकृत आचार की और लोगों की अवगणना की। मोहग्रसित चुलनी देवी ने उसको स्वीकार किया, ''क्योंकि इंद्रियां अति दुर्वार होती है।'' ब्रह्मराजा के राज्य में रहकर चुलनी ने पति का प्रेम और दीर्घ राजा ने मित्र का स्नेह छोड़ दिया। ''अहो! कामदेव सर्वशक्तिमान (सर्वंकष) है।'' कौए और मछली की तरह इच्छानुसार सुखपूर्वक विलास करते हुए उन दोनों को मुहूर्त के समान बहुत दिन व्यतीत हो गये।

(गा. 119 से 122)

मानो ब्रह्मराजा को दूसरा हृदय हो, वैसे धनु नाम के मंत्री ने उनका यह दुश्चेष्टित स्पष्ट रूप से जान लिया। मंत्री ने विचार किया कि– कभी चुलनी स्त्री स्वभाव के कारण अकार्य भी कर सकती है, क्योंकि सती स्त्रियाँ विरल होती है, परंतु जो दीर्घराजा का कोश और अंतःपुर सहित सम्पूर्ण राज्य विश्वास से घरोहर रूप से अर्पण किया हुआ है, वह जब विकार होने पर अकार्य कर सकता है तो चुलनी का अकार्य तो कोई गिनती में नहीं है। अब इस ब्रह्मदत्त कुमार का कोई विप्रिय न कर दे, यह विचार करने का है, क्योंकि पोषण करने पर भी दुर्जन मार्जार के समान कभी कोई अपना होता नहीं। ऐसा विचार करके मंत्री ने अपने वरधनु नाम के पुत्र को यह वृत्तांत ब्रह्मदत्त को ज्ञात कराने का एवं निरंतर उसकी सेवा में रहने की आज्ञा दी। मंत्रीपुत्र ने सर्व वृत्तांत ब्रह्मदत्त को ज्ञात कराया। तब उसने नये मदधारी हस्ति के समान धीरे धीरे अपना कोप प्रकट किया। अपनी माता का ऐसा दुश्चरित्र सहन न करता हुआ ब्रह्मदत्त एक दिन हाथ में एक कौआ और एक कोकिल को लेकर अंतःपुर में गया। तब इस पक्षी के समान कोई वर्णशंकर करेगा तो मैं उसका अवश्य ही निग्रह करूंगा। इस प्रकार कुमार वहाँ उच्च स्वर में बोला। यह सुनकर एकांत में चुलनी से दीर्घ राजा ने कहा कि – मैं कौवा और तू कोयल है, ऐसा समझना। अतः यह कुमार अवश्य दोनों का निग्रह करेगा। देवी बोली ''इस बालक के बोल से भयभीत मत होना।''

(गा. 123 से 131)

किसी समय ब्रह्मदत्त पुनः एक भद्र जाति की हथिनी के साथ हल्की जाति के हाथी को लेकर पहले के समान ही मृत्यु सूचक वचन बोला। यह सुनकर दीर्घ ने चुलनी को कहा कि इस बालक का भाषण साभिप्राय है। चुलनी ने कहा कि कभी ऐसा भी हो, तो भी क्या? एक बार हंसी के साथ बगुला को बांधकर अंतःपुर में ले जाकर ब्रह्मदत्त कहने लगा कि इसके समान कोई रमण करेगा तो मैं कदापि सहन नहीं करूँगा। यह सुनकर दीर्घराजा बोला, हे देवी! अंदर उत्पन्न हुई रोषाग्नि से बाहर निकलते धुएँ के उद्‌गार जैसी यह तेरी बालपुत्र की वाणी को सुन। यह कुमार बड़ा हो

जाने से हाथी और हथिनी को केशरी सिंह के समान हमें अवश्य विघ्नकर्ता बनाएगा। जब तक यह कुमार कवचधारी न हो, तब तक विष के बालवृक्ष की भांति उसे नष्ट कर देना ही योग्य है। चुलनी बोली, ऐसे राज्य की धरोहर सम पुत्र को कैसे मारा जाय? क्योंकि तिर्यंच भी अपने प्राणों की भांति अपने पुत्र की रक्षा करते हैं।'' दीर्घ बोला 'अरे रानी! यह पुत्र तेरा मूर्तिमान काल ही आया हुआ है, इसलिए तू उस पर मोह मत कर। मेरे होते हुए तेरे पुत्र होना कोई दुर्लभ नहीं है।' दीर्घ के ऐसे वचन सुनकर रतिस्नेह के परवश हुई चुलनी ने डाकण के समान पुत्र के वात्सल्य का त्याग करके, वैसा करना स्वीकार कर लिया। उसने विचार किया कि–इस कुमार को मार डालना है, परंतु लोक में निन्दा न हो। तब काम का काम हो जाए और पितृ का तर्पण हो वैसा करना है। उसके लिए क्या उपाय करना? एक उपाय है उसका अभी विवाह करना बाकी है। अतः उसके विवाह के पश्चात् उसको निवास करने के लिए निवासगृह बनाने के बहाने एक लाक्षागृह (लाख का घर) बनवाया होगा। उसमें प्रवेश और निगर्मन गुप्त रीति से करे ऐसी रचना करवानी होगी और विवाह के पश्चात् जब इसमें वधु के साथ शयन करने जाय, तब रात्रि में अग्नि प्रज्वलित करनी होगी। इस विचार से दोनों सहमत हो गये। तब पुष्पचूला राजा की कन्या के साथ संबंध करके विवाह की सर्व तैयारी करने लगे।

(गा. 132 से 144)

उनका यह क्रूर आशय धनुमंत्री को ज्ञात होने पर उन्होंने दीर्घराजा के पास जाकर अंजलीबद्ध होकर कहा, कि राजन्! मेरा पुत्र वरधनु कलाओं में निष्णात और नीतिकुशल है। वह अब से मेरे समान आपकी आज्ञा रूपी रथ की धुरा को वहन करने वाला हो। मैं वृद्ध वृषभ के तुल्य गमनागमन करने में अशक्त हो गया हूँ, अतः आपकी आज्ञा से किसी स्थान पर जाकर धर्मअनुष्ठान करूँगा। इस प्रकार मंत्री के ऐसे वचन से 'यह मंत्री किसी अन्य स्थान पर जाकर कपट रचकर कुछ अनर्थ करेगा। ऐसी दीर्घ को शंका हुई। बुद्धिमान पर कौन शंका न करे?' पश्चात् दीर्घराज ने माया करके मंत्री से कहा कि 'चंद्र बिना रात्रि के समान आपके बिना हमारे इस राज्य का

क्या काम है? इसलिए आप यहीं पर रहकर दानशाला आदि में धर्माचरण करो, अन्य स्थान पर जाना नहीं, क्योंकि उत्तम वृक्षों से जैसे वन की शोभा है, वैसे ही आप जैसे पुरुषों से ही राज्य की शोभा है।

(गा. 145 से 150)

दीर्घ राजा के इस प्रकार कहने से सद्बुद्धि निधान धनुमंत्री ने गंगा नदी के तीर पर मानो धर्म का महासत्र (दानशाला) हो वैसी एक पवित्र दानशाला का मंडप बनवाया। एवं स्वयं ने वहां रहकर गंगा के प्रवाह के समान हमेशा राहगीरों को अन्नपान देकर अविच्छिन्न प्रवाह का प्रर्वतन किया। दान, मान और उपकार द्वारा विश्वास योग्य पुरुषों द्वारा दो कोश दूर से सुरंग बनवाकर लाक्षागृह तक पहुँचा दी। तत्पश्चात् स्नेह रूप आर्द्रवृक्ष में जल समान गुप्त लेख लिखकर उसने यह वृत्तांत पूष्पचूल राजा को ज्ञात कराया। यह वृत्तांत जानकर बुद्धिमान् पुष्पचूल राजा ने अपनी दुहिता के स्थान पर मानो हंसी की जगह बगुली की तरह एक दासी को भेज दी। पीतल पर चढ़ाए स्वर्ण रस जैसी उस दासी को पुष्पचूल की पुत्री ही जानने लगे। अनुक्रम से आभूषणों की मणियों से प्रकाशित उस दासी ने नगरी में प्रवेश किया। इसके पश्चात् गीतों की ध्वनि और वाजिंत्रों के नाद से आकाश को गुंजाती और हर्षित होती चुलनीदेवी ने उसे ब्रह्मदत्त के साथ विवाहकर दिया। सायंकाल में सर्व लोगों को विदा करके चुलनी ने उन वर–वधु को उस लाक्षागृह में सोने के लिए भेजा। ब्रह्मदत्त भी अन्य परिजनों को विदा करके वधू और अपनी छाया समान मंत्रीपुत्र वरधनु सहित वहाँ शयन करने के लिए गया। मंत्री कुमार के साथ वार्तालाप करते हुए ब्रह्मदत्त ने जागृत स्थिति में ही अर्धरात्रि निर्गमन की। ''महात्माओं को अतिनिद्रा कहाँ से हो?'' तब चुलनी देवी के आज्ञांकित और नामितमुख वाले पुरुषों ने लाक्षागृह को अग्नि लगाई, फिर आग लग गई, आग लग गई ऐसा चिल्लाने लगे। उनसे ही मानो प्रेरित किया हो ऐसी उस अग्नि ने लाक्षागृह को चारों तरफ से घेर लिया अर्थात् वह चारों तरफ से जलने लगा। उस समय चुलनी और दीर्घराजा के दुष्कृत्य की अपकीर्ति के प्रसार जैसा धूम्र के समूह ने भूमि और आकाश को भर दिया हो, मानो अत्यंत क्षुधातुर हो वैसे सर्व

को ग्रसित करने के लिए अग्नि सात जिह्वावाला होने पर भी कोटि जिह्वावाला हो गया। उस वक्त यह क्या हो गया? ऐसा ब्रह्मदत्त ने मंत्रीपुत्र को पूछा। तब उसने चुलनी देवी को दुष्चेष्टित संक्षेप में कह सुनाया। इसके पश्चात् कहा कि मृत्यु के कर समान इस स्थान में से तुम्हारा आकर्षण करने के लिए मेरे पिता ने यहाँ तक एक सुरंग बना दी है। जो कि उनकी दानशाला तक जाती है। यहाँ एड़ी के प्रहार से उसे खोलकर विवरद्वार से योगी के जैसे उसमें आप प्रवेश करें। तब वाजिंत्र के पुट के समान एड़ी के प्रहार से पृथ्वी का पुट भेद कर छिद्र में डोरे के समान ब्रह्मदत्त मित्र के साथ उस सुरंग में चला। सुरंग के अंत में धनुमंत्री ने दो अश्व तैयार करके रखे हुए थे। सुरंग से बाहर निकल कर राजकुमार और मंत्रीपुत्र रेवंत की शोभा का अनुसरण करते हुए अश्व पर आरूढ हुए। वे अश्व पंचमधारा से एक कोश के समान पचास योजन तक एक श्वांस में चले। जब वे खड़े हुए उसी समय उच्छ्वास लेते ही वे मृत्यु को प्राप्त हो गये। तब वे अपनी रक्षा के लिए चलते हुए अनुक्रम से कोष्टक नामक गांव के पास कठिनाई से आ पहुँचे। वहाँ ब्रह्मदत्त ने मंत्रीकुमार से कहा, मित्र वरधनु! अभी परस्पर स्पर्धा करती हो, वैसी क्षुधा और तृषा दोनों ही मुझे अति पीड़ित कर रही है। 'एक क्षण राह देखो' ऐसा कहकर मंत्रीपुत्र ने क्षौर कराने की इच्छा से गांव में से एक नापित को बुलाया। मंत्रीपुत्र के विचार से ब्रह्मदत्त ने भी उस नाई से वपन कराया (केश कटवाये)और मात्र शिखा ही रखकर उसने पवित्र कषाय वस्त्र धारण किये। इससे संध्या से ढ़के सूर्य के समान वह दिखाई देने लगा। तत्पश्चात् वरधनु प्रदत्त ब्रह्मसूत्र उसने कंठ में धारण किया, जिससे ब्रह्मराजा के पुत्र ब्रह्मदत्त ने ब्रह्मपुत्र (ब्राह्मण) के सादृश्य प्राप्त हुए। ब्रह्मदत्त के वक्षःस्थल पर श्रीवत्स का लांछन था। उसे मंत्रीपुत्र ने बादलों से सूर्य समान वस्त्र से ढंक दिया।

(गा. 151 से 176)

इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने सूत्रधार के समान और मंत्रीपुत्र वरधनु ने विदूषक के समान सर्व वेश परिवर्तन कर लिया। पश्चात् पूर्णिमा को सूर्य

चंद्र साथ–साथ दिखते हैं, वैसे वे साथ साथ गांव में गये। किसी उत्तम ब्राह्मण ने उनको भगवान् जानकर भोजन का निमंत्रण दिया और उसने राजा तुल्य भक्ति से भोजन कराया। ''प्रायः तेज के प्रमाण से ही सत्कार होता है।''

(गा. 177 से 179)

उसके पश्चात् उस ब्राह्मण की स्त्री ने कुमार के मस्तक को अक्षत से बधाकर दो श्वेत वस्त्र और एक अप्सरा जैसी कन्या उनके समक्ष रखी। वरधनु बोला – अरे मूढ! कसाई के आगे गाय के समान यह पराक्रम या कला में अज्ञात जन के कंठ में इस कन्या को क्या देखकर बांध रहे हो? तब वह ब्राह्मण बोला कि ''यह मेरी गुणवती बंधुमती नाम की कन्या है। इसका इस पुरुष के अतिरिक्त अन्य कोई वर नहीं है क्योंकि एक नेमैत्तिक ने मुझे कहा है, कि इस कन्या का पति षट्खंड पृथ्वी का पालक होगा।'' उस निश्चय से वह यही पुरुष है और फिर उसने मुझे यह भी बताया कि वस्त्र से जिसने अपना श्रीवत्स लांछन ढंककर रखा होगा। साथ ही जो पुरुष तेरे यहाँ भोजन करने आवे, उसे तुझे तेरी कन्या अर्पण करनी है। तब उस बंधुमती कन्या के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह हो गया। भोगियों को अचिंत्य मनोवांछित भोग सामग्री मिल जाती है। उस रात्री में बंधुमती के साथ रहकर, उसे आश्वासन देकर दूसरे दिन कुमार वहाँ से अन्यत्र जाने के लिए चल पड़ा, ''क्योंकि शत्रु वाले पुरुष एक स्थान पर किस प्रकार रह सकते हैं?'' प्रातः काल वे एक गांव में पहुँचे, वहाँ उन दोनों ने सुना कि दीर्घराजा ने ब्रह्मदत्त के सभी मार्ग रुंध डाले हैं। यह सुनकर उन्मार्ग से चलते हुए वे एक महाअटवी में आ पहुँचे। वहाँ मानो दीर्घ राजा के पुरुष हों, वैसे अनेक भयंकर शिकारी प्राणियों ने उस अटवी को अवरूद्ध कर रखा था। तृषा से व्याकुल ब्रह्मदत्त को वहाँ एक बड़ के नीचे बैठा कर मंत्री कुमार मन जैसे वेग से जल लेने चल पड़ा। वहाँ दीर्घराजा के पुरुषों ने जैसे सूअर के बच्चे को श्वान रुंघ लेता है, वैसे ही रोष से वरधनु को पहचान कर पकड़ लिया। पश्चात् पकड़ो, मारो, पकड़ो मारो ऐसे भयंकर शब्द बोलते हुए उन्होंने

वरधनु को पकड़ कर बांध लिया। उसने संज्ञा से ब्रह्मदत्त को ईशारा कर दिया कि पलायन करो। इससे कुमार ने तत्काल ही वहाँ से पलायन कर दिया, क्योंकि समय आने पर ही पराक्रम बताया जा सकता है। जैसे आश्रमी पुरुष एक आश्रम से दूसरे आश्रम में चला जाता है, वैसे ही वेग से वह उस अटवी में से दूसरी अटवी में चला गया। वहाँ विरस (खराब) और नीरस (रस बिना) फलों का आहार करते हुए उसने दो दिन व्यतीत किये। तीसरे दिन उसे एक तापस दिखाई दिया। कुमार ने पूछा भगवान् आपका आश्रम कहाँ है? तब वह तपस्वी उसे अपने आश्रम में ले गया। तापसों को अतिथि प्रिय होते हैं। वहाँ उसने कुलपति को देखा तभी पिता की भांति उसने हर्ष से उनको नमस्कार किया। ''अनजान वस्तु में भी अंतःकरण सत्य की कल्पना करता है।'' कुलपति ने उससे पूछा कि वत्स! तुम्हारी आकृति अत्यन्त मधुर ज्ञात होती है, मरुदेश में कल्पवृक्ष समान आपका आगमन यहाँ कैसे हुआ? ब्रह्मकुमार ने उन महात्मा पर विश्वास करके अपना सर्व वृत्तान्त कह सुनाया, क्योंकि प्रायः ऐसे पुरुषों के पास कुछ भी गोप्य नहीं होता।

(गा. 180 से 198)

ब्रह्मदत्त का वृत्तांत सुनकर कुलपति खुश हो गया। उसने हर्ष से गद् गद् स्वर में कहा कि वत्स! एक आत्मा के दो रूप हों, वैसे ही मैं तुम्हारे पिता का लघु बंधु हूँ। इसलिए अब तुम तम्हारे घर ही आए हो, ऐसा समझकर यहाँ सुख से रहो एवं हमारे तप द्वारा हमारे मनोरथ के साथ वृद्धि को पाओ। इसके पश्चात् लोगों की दृष्टि को आनंददायक और अत्यंत विश्ववल्लभ कुमार उस आश्रम में रहा। अनुक्रम से वर्षाकाल आया। वहाँ रहकर वह बलदेव के पास कृष्ण के समान सर्व अस्त्र और शस्त्र विद्या सीखा। वर्षाऋतु के व्यतीत हो जाने पर बंधु तुल्य शरदऋतु आई। तब तापस फलादिक के लिए वन में गये। उस समय कुलपति ने आदर से उसे बहुत रोका, फिर भी वह ब्रह्मदत्त हाथी के बच्चों के साथ जैसे छोटा बच्चा भी जाता है, वैसे ही उनके साथ वन में जाने को चल पड़ा। इधर उधर घूमते हुए

ब्रह्मदत्त ने किसी हाथी का मूत्र और विष्ठा देखी। तब कुशाग्र मतिवाले उसने विचार किया कि यहाँ अवश्य ही कोई हाथी होना चाहिए। तब तापसों ने उसे बहुत रोका। तथापि वह हाथी के पदचिह्नों से पांच योजन तक चला गया। वहाँ एक पर्वत जैसा विशालकाय हाथी उसे दिखाई दिया। तब मल्ल जैसे मल्ल को बुलाता है, वैसे ही उस नरहस्ती कुमार ने पर्यंकबद्ध होकर उग्र गर्जना करके उस उन्मत्त हाथी को निःशंक रूप से बुलाया। तब क्रोध से सर्व अंगों को घुमाता, सूंढ को संकुचित करता हुआ, कर्ण को निश्चल करता हुआ और ताम्रमुख करके वह हाथी हस्तिकुमार की ओर दौड़ा आया। जब वह नजदीक आया, तब कुमार ने उसे बालक की तरह छेड़ने के लिए बीच में ही अपना उत्तरीय वस्त्र डाल दिया। मानों आकाश में से मेघ खंड गिरा हो, वैसे उस वस्त्र को गिरा देख कर क्रोधी वह गजेन्द्र उस वस्त्र पर दंतशूल से प्रहार करने लगा। पश्चात् वादी जैसे सर्प को खिलाता है, वैसे ही राजकुमार ने अनेक प्रकार की चेष्टाओं से उस हाथी को लीला करके खिलाया।

(गा. 199 से 211)

उस समय मानो ब्रह्मदत्त का मित्र हो वैसे अटवी में अंधकार सहित बरसात हुयी। इस जलधारा से हाथी उपद्रव करने लगा। इससे तत्काल वह गजेन्द्र विरस शब्द करता हुआ मृग की तरह भाग गया। ब्रह्मदत्त कुमार पूरे दिन दिग्मूढ होकर उसके पीछे घूमता–घूमता एक नदी में गिरा। परन्तु मूर्तिमान आपत्ति हो वैसी उस नदी ने कुमार को सहज में ही पार करवा दिया। उसे किनारे पर एक वीरान नगर दिखाई दिया, उसमें प्रवेश करते समय कुमार ने एक वंशजालिका देखी। उसमें उत्पात कर रहे केतु और चंद्र हों, वैसे एक खड्ग और म्यान उसे दिखाई दिए। तब शस्त्र के कौतुकी कुमार ने उन दोनों को लेकर खड्ग द्वारा कदली की तरह उस वंशजालिका को छेद डाला। इतने में वंशजाल के अंदर जिसके ओष्टदल फरक रहे हों, ऐसा एक मस्तक स्थलकमल के समान कटकर पृथ्वी पर पड़ा हुआ, उसे दिखाई दिया। जब कुमार ने अच्छी तरह तलाश की तब विदित हुआ कि उस वंशजाल में स्थित और धूम्रपान करते किसी निरपराधी मनुष्य को मैंने

मार डाला! अरे रे! मुझे धिक्कार हो इस प्रकार वह अपनी आत्मा की निंदा करने लगा। वहाँ से आगे जाते हुए कुमार ने देवलोक से पृथ्वी पर उतरा हुआ नंदनवन के जैसा एक रमणीय उद्यान देखा।

(गा. 212 से 220)

उसमें प्रवेश करके सातलोक की लक्ष्मी का रहस्य एकत्रित हुआ हो, ऐसा एक सात भूमिकावाला प्रासाद उसे दिखाई दिया। ब्रह्मदत्त उस आकाश तक ऊँचे महल पर चढ़ा। तब उसमें सुंदर बदन वाली मुख पर हाथ रखकर बैठी एक खेचरी जैसी कन्या उसे दिखाई दी। कुमार उसके पास आकर विमल वाणी से बोला कि "तू कौन है? यहाँ अकेली क्यों रहती है? और तेरे शोक का क्या कारण है? भयभीत हुई वह बाला गद्गद् स्वर में बोली कि मेरा वृत्तांत क्या बताऊँ? बहुत लंबा है, अतः पहले आप कहें कि आप कौन हैं? और यहाँ कैसे आए हैं? ब्रह्मदत्त बोला– पांचाल देश के ब्रह्मराजा का मैं ब्रह्मदत्त नामका कुमार हूं। ऐसे वचन सुनते ही वह रमणी हर्ष से खड़ी हो गई। उसके लोचन रूप अंजली में से झरते आनंदाश्रु के जल से उसने कुमार को चरण में पाद्य (चरणोदक) दिया। तब हे कुमार! समुद्र में डूबते जहाज की भांति मुझ अशरण बाला के शरण रूप आप यहाँ पधारे हो। ऐसा कहकर वह बाला रूदन करने लगी। कुमार ने पूछा 'तुम रो क्यों रही हो? वह बाला बोली मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुष्पवती नामकी पुत्री हूँ। अभी मैं कन्या ही हूं और मेरे पिता ने आपको संबंध करके दी हुई है। अन्यदा विवाह से उन्मुख हुई मैं हंसी से समान उद्यान की वापिका के तट पर क्रीड़ा करने गई थी। इतने में जानकी को रावण के समान नाट्योन्मत्त नामक एक दुष्ट विद्याधर मेरा हरण करके यहाँ ले आया। परंतु वह मेरी दृष्टि को सहन नहीं कर सका। इससे सूर्पणखा के पुत्र की तरह विद्यासाधन के लिए यहाँ से जाकर एक वंशजालिका में धूम्रपान करता हुआ उर्ध्व पैर करके रहा हुआ है। उस विद्याधर को आज विद्या सिद्ध होने वाली है। विद्यासिद्ध होने के पश्चात् शक्तिमान हुआ वह मुझसे विवाह करने का प्रयत्न करेगा। यह सुनकर कुमार ने स्वयं उसका वध कर दिया यह वृत्तान्त उसे कह सुनाया। यह श्रवण कर उस रमणी को अपार हर्ष हुआ। पश्चात् परस्पर

अनुरक्त हुए उस दंपत्ति ने वहाँ गांधर्व विवाह किया। यह विवाह मंत्र रहित है, तथापि क्षत्रियों में दंपत्ति के लिए श्रेष्ठ माना गया है। पश्चात् विचित्र वार्तालाप द्वारा उसके साथ क्रीड़ा करते हुए ब्रह्मदत्त ने त्रियामा (रात्री) एक यामा (प्रहर) की तरह निर्गमन की।

(गा. 221 से 235)

प्रातः काल आकाश में मृगलियों के जैसे खेचर स्त्रियों के शब्द ब्रह्मदत्त को सुनने में आए। तब अभ्र बिना की वृष्टि जैसे अकस्मात् यह शब्द किसके होंगं? ऐसा ब्रह्मदत्त ने पुष्पवती से पूछा। पुष्पवती ने संभ्रम से कहा कि '' हे प्रिय! आपका शत्रु नाटयोन्मत्त विद्याधर की खंडा और विशाखा नामकी दो बहने हैं। उन विद्याधर कुमारिकाओं की यह आवाजें हैं। वे अपने भाई के विवाह की सामग्री हाथ में लेकर यहाँ आ रही हैं। ''परंतु मनुष्य के अन्यथा चिंतित कार्य को दैव अन्यथा कर देते हैं।'' हे स्वामिन्! अभी आप क्षणभर के लिए दूर हो जाइये। तो मैं आपके गुणकीर्तन करके उनका आपके ऊपर राग–विराग के भाव जान लूँ। हे नाथ! यदि आप पर उनका राग होगा तो मैं लाल ध्वजा बताऊंगी और विराग के भाव होगें तो श्वेत ध्वजा दिखाऊँगी। यदि श्वेत ध्वजा दिखाऊँ तो आपको दूसरी ओर चले जाना होगा और यदि लालध्वज बताऊं तो इधर आ जाइयेगा। ब्रह्मदत्त बोला – 'हे भीरु! तुम डरो मत। मैं ब्रह्मराजा का कुमार हूँ। ये स्त्रियाँ तोष या रोष से मेरा क्या कर सकती है? पुष्पवती बोली 'मैं उन विद्याधारियों के लिए नहीं कह रही, परंतु उनके संबंधी खेचर आपके साथ विरोध नहीं करे, इसलिए कह रही हूँ। पश्चात् ब्रह्मदत्त उसके चित्त की अनुवृत्ति से एक तरफ छुपा रहा। थोड़ी देर में पुष्पवती ने श्वेत ध्वजा चलाई, यह देखकर कुमार प्रिया के आग्रह के कारण धीरे धीरे उस प्रदेश में से अन्यत्र निकल गया। वैसे ऐसे नरों को कोई भय होता नहीं है।

(गा. 236 से 245)

वहाँ से आगे चलते आकाश से दुर्ग्राह अरण्य का उल्लंघन करके सायंकाल में थका हारा वह समुद्र के समान एक महान् सरोवर के समीप

आया। फिर मानसरोवर में ऐरावत के जैसे ब्रह्मदत्त ने उसमें प्रवेश किया और स्वच्छ जल से स्नान करके, उसके अमृत तुल्य जल का पान किया। उसमें से निकलते भ्रमर के शब्द द्वारा जैसे लट (मकड़ी) आती है, वैसे ही स्नानोचित्त ऐसे उत्तर पश्चिम (वायव्य) दिशा के तट पर वह आया। वहाँ वृक्षलता के कुंज में साक्षात् वन के अधिदेवता हों, वैसी एक सुंदरी पुष्प चुनती हुई उसे दिखाई दी। उसे देखकर कुमार चिंतन करने लगा कि 'जन्म से लेकर रूप रचना का अभ्यास करते–करते ब्रह्मा को ऐसा रूप रचने का कौशल्य प्राप्त हुआ होगा। कुमार ऐसा विचार कर ही रहा था, कि एक दासी के साथ बात करती एवं डोलर के पुष्प जैसे कटाक्ष द्वारा मानो कुमार के कंठ में माला आरोपित कर रही हो, वैसे वह कुमार को निहारती निहारती दूसरी ओर चली गई। कुमार भी उसे देखता–देखता दूसरी ओर चल दिया। इतने में वस्त्र, आभूषण, तांबूल आदि लेकर एक दासी कुमार के पास आई। उसने कुमार को वस्त्रादिक देकर कहा कि, हे भद्र! यहाँ जो सुन्दर कन्या आपको दिखाई दी थी, उसने स्वार्थसिद्ध के कोल के समान यह सर्व वस्त्रादिक आपके लिए भिजवाये हैं तथा मुझे आज्ञा दी है कि कुमार को पिता के मंत्री के घर ले जावे, क्योंकि वे सर्व योग्यता के ज्ञाता हैं। तब ब्रह्मदत्त उसी के साथ नागदेव मंत्री के निवास पर गये। उसके सद्गुणों से आकर्षित हुए हो, वैसे मंत्री उसे देखते ही खड़े होकर सामने आए। तब हे मंत्रीराज! श्रीकांता राजपुत्री ने इन महाभाग को भेजा है। ऐसा कहककर दासी चली गई। क्षण की भांति रात्रि निर्गमन हो गई। रात्रि व्यातीत हो जाने के पश्चात् मंत्री उसे राजकुल में ले गये। राजा ने बालसूर्य के समान अघर्यादिक से पूजा की। पश्चात् वंश कुलादि को पूछे बिना राजा ने अपनी पुत्री अर्पण की। ''चतुर लोग सर्व वृत्तांत आकृति से ही ज्ञात कर लेते हैं।'' पाणिग्रहण के समय उसका हाथ अपने हाथ से दबाता हुआ मानो सर्व ओर से अनुराग संक्रमित करता हुआ वह कुमार राजकुमारी को परणा एक समय ब्रह्मदत्त ने एकान्त में क्रीड़ा करते समय राजकुमारी को पूछा कि मेरा कुल आदि जाने बिना तेरे पिता ने तेरा विवाह मेरे साथ कैसे कर दिया? दांत की किरणों से अधरों को उज्ज्वल करती हुई श्रीकांता बोली, हे स्वामिन्!

वसंतपुर नगर में शबर सेन नामका राजा था। मेरे पिता उनके पुत्र हैं। मेरे पितामह की मृत्युपरान्त राजगद्दी पर मेरे पिता आसीन हुए। परन्तु क्रूर गोत्रिजनों ने उनको बहुत हैरान किया। इससे वे बलवाहन आदि लेकर इस पल्ली को आश्रय करके रह रहे हैं। यहाँ रहने पर भी बरु के वृक्ष को जल के वेग की भांति उन्होंने भिल्ल लोगों को परास्त कर दिया है और ग्राम आदि का घात करके अर्थात् ग्राम लूटकर या डकैती डालकर अपने परिवार का पोषण कर रहे हैं। चार उपायों के अंत में जैसे लक्ष्मी प्राप्त होती है, वैसे ही चार पुत्रों के पश्चात् मैं उनको अतिप्रिय पुत्री हुई। मुझे यौवनवती देखकर मेरे पिता ने मुझे कहा कि जो सर्व राजा तेरी अपेक्षा करे, उनको तू दृष्टि मात्र से देखना और उनमें से जो तुझे योग्य लगे, उसके लिए तुझे मुझे कहना। पिता के कथनानुसार उसके लिए तुझे मुझे कहना। उसके पश्चात् मैं चक्रवर्ती के समान सरोवर के तीर पर रहकर सर्व पांथजनों को देखती रहती थी। ऐसे में जहां मनोरथ की भी गति न हो वैसे अति दुर्लभ ऐसे आप मेरे भाग्य की वृद्धि से यहाँ आ चढ़े और मेरे साथ पाणिग्रहण करके मुझे कृतार्थ किया।

(गा. 246 से 268)

एक वक्त वह पल्लीपती किसी गांव को मारने के लिए चला। तब ब्रह्मदत्त कुमार भी उनके साथ गया। क्योंकि ''क्षत्रियों का ऐसा ही कर्म है। तब भीललोग तो गांव लूटने लगे। इतने में मंत्रीपुत्र वरधनु सरोवर के तट पर आकर हंस की तरह कुमार के चरण कमल में गिर पड़ा। फिर कुमार के कंठ से लिपट कर वह मुक्त कंठ से रो पड़ा, क्योंकि इष्ट जन के दर्शन से पूर्व दुःख भी ताजा हो जाता है। ''हे नाथ! आपको वटवृक्ष के नीचे छोड़ मैं जल लेने गया था। वहाँ आगे जाने पर एक अमृत के कुंड जैसा एक विशाल सरोवर मुझे दिखाई दिया। उसमें से कमलपत्र में जल लेकर लौट कर आ रहा था कि इतने में तो मानो यमदूत हों, वैसे अनेक कवचधारी सुभटों ने मुझे रोक लिया। वे मुझे पूछने लगे कि 'हे वरधनु! बता, ब्रह्मदत्त कहाँ है? मैंने कहा कि 'मैं नहीं जानता।' तब वे चोर की तरह मुझे मारने

लगे। इसलिए मैंने कह दिया 'ब्रह्मदत्त को कोई बाघ खा गया।' वे बोले कि वह स्थान बता। इसलिए इधर उधर घूमता मैं आपके दर्शन मार्ग में आया और मैंने आपको भाग जाने का ईशारा किया। बाद में किसी तापस ने मुझे एक गुटिका दी थी, तो वह मैनें मुँह में रखी। उस गुटिका के प्रभाव से मैं संज्ञा रहित होकर गिर पड़ा। तब 'अरे! यह तो मर गया' ऐसा सोचकर वे मुझे छोड़ कर चल दिये। उनके जाने के बहुत देर के बाद मैंने वो गुटिका मुँह में से निकाली। तब नष्ट हुए अर्थ की भांति आपको ढूँढने के लिए घूमता हुआ मैं किसी एक गांव में आया। वहाँ कोई उत्तम तापस मुझे दिखाई दिया। मानों तप की राशि हो वैसे उस तापस को मैंने प्रणाम किया। मुझे देखकर वे तापस बोले – 'वरधनु मैं तेरे पिता धनु का मित्र हूँ। हे महाभाग! तेरे साथ भगा ब्रह्मदत्त कहाँ है? मैनें कहा 'सकल विश्व देखा, परन्तु उसका पता नहीं लगा। मेरी ऐसी दुष्कथा रूपी धूएँ से जिनका मुख म्लान हो गया ऐसे उन तापस ने कहा कि जब वह लाक्षागृह दग्ध हो गया, तब प्रातः काल दीर्घराज ने देखा तो उसमें से एक ही जला हुआ मुर्दा निकला। तीन मुर्दे निकले नहीं। अन्दर और तलाश करने पर सुरंग दिखाई दी। उसके अंत में अश्व के पदचिह्न देखे। तब तुम दोनों ही धनुमंत्री की बुद्धि से भाग गए हो, ऐसा सोच कर दीर्घ राजा धनुमंत्री पर क्रोधित हुए। तब तुम दोनों को बांधकर लाने के लिए दीर्धराज ने प्रत्येक दिशा में सूर्य के तेज जैसे अस्खलित गतिवाले घुड़सवार भेजने की आज्ञा दी। धनुमंत्री तो तुरंत ही वहाँ से भाग गए। और आपकी माता को तो दीर्घराजा ने नरक सदृश चांडाल के पाडे में डाल दिया। गुमडे पर छाला हुआ हो वेसे उस तापस से यह वार्ता सुनकर आर्त हुआ मैं दुःख पर दुःख पाकर कांपिल्य नगर गया। वहाँ कपट से कापालिक का वेश लेकर चांडाल के पाडे में निरंतर घर–घर घूमने लगा, बैठने लगा और देखने लगा। वे लोग जब मुझे घूमने का कारण पूछते, तब मैं कहता कि 'मैं मातंगी (चांडाली) विद्या साधन कर रहा हूँ, उसका ऐसा कल्प है। घूमते घूमते वहाँ के रक्षक के साथ मेरी विश्वासपात्र मैत्री हो गई। ''माया से क्या साध्य नहीं होता।''

(गा. 269 से 290)

एक दिन मैंने उस रक्षक के पास मेरी माता को कहलाया कि 'आपके पुत्र का मित्र कौंडिय महाव्रतधारी हुआ है, वह आपका अभिनन्दन करता है। दूसरे दिन मैं स्वयं माता के पास गया। उनको वह गुटिका और बीजोरे का फल दिया। वह फल खाते ही मेरी माता संज्ञा रहित हो गई। तब कोतवाल ने उनको शरीर का संस्कार करने के लिए सेवकों को आज्ञा दी। उस समय उनके पास जाकर मैंने कहा कि 'अरे राजपुरुषों! यदि इस समय इस स्त्री का मृत संस्कार करोगे तो राजा का बड़ा अनर्थ हो जाएगा। 'ये सुनकर वे चले गये। पश्चात् मैंने उस पुररक्षक को कहा 'यदि तू मुझे सहायता करे तो सर्वलक्षणवाली इस स्त्री के शव के द्वारा मैं एक मंत्र साधूं।' पुररक्षक ने ऐसा करने को हां कहा। तब उसके साथ सांयकाल में माता को दूर शमशान में ले गया। वहाँ माया कपट से शुद्ध स्थंडिल (जमीन) पर मैंने मंडल आदि बनाये। बाद में नगरदेवी को बलिदान देने के लिए कुछ लेने के लिए उस आरक्षक को भेजा। उसके जाने के पश्चात् मैंने मेरी माता को दूसरी गुटिका दी। तो तत्काल निद्रा का छेद हुआ हो वैसे वह उबासी खाती खाती सचेत हो गई। प्रथम तो वह रुदन करने लगी। तब मैंने अपनी पहचान देकर उनको शांत किया। तब मैं कच्छ ग्राम में रहते मेरे पिता के मित्र देवशर्मा के घर उनको ले गया। वहाँ से निकलकर अनेक स्थानों पर परिभ्रमण करता हुआ और आपको ढूँढता–ढूँढता यहाँ आया हूँ। सद्भाग्य से मेरे पुण्य की राशि के समान आप मुझे यहाँ दृष्टिगत हुए। इस प्रकार अपना सर्व वृत्तांत कहने के पश्चात् वरधनु ने पूछा 'हे बंधु! मुझ से जुदा होने के बाद आप कहाँ गये और किस प्रकार से कहाँ रहे? वह कहो। तब ब्रह्मदत्त ने अपनी सर्व हकीकत उसे निवेदन की। दोनों ही मित्र आपस भी इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि इतने में किसी ने आकर उन को कहा कि ' इस गांव में दीर्घ राजा के सुभट आए हैं। वे तुम्हारे समान रूप की आकृतियाँ बताकर गांव के लोगों को पूछ रहे हैं कि इसी आकृति वाले दो पुरुष यहाँ आए हैं क्या? उनकी बात सुनकर ही मैं इधर आ रहा हूँ। वहाँ तो आप दोनों को वैसी ही आकृतिवाले मैंने देखा। अब आपको जैसा रुचे वैसा करो। ऐसा कहकर वह पुरुष चला गया। ब्रह्मदत्त और मंत्री पुत्र दोनों

हाथी के बच्चे की तरह तत्काल अरण्य में भाग गये। अनुक्रम से वे कौशांबी पुरी के पास आए।

(गा. 291 से 304)

उस नगरी के उद्यान में उस नगर में रहने वाले सागरदत्त सेठ और बुद्धिल ने कूकड़े (मुर्गे) में लड़ाई हो रही थी। उसमें हारजीत पर एक लक्ष द्रव्य का पण (निर्धारण) किया हुआ था। वह इन दोनों कुमारों ने देखा। दोनों ही मुर्गे खींचने की संडासियाँ हो, वैसे तीक्षण नखों से और चोंचों से उछल उछल कर युद्ध कर रह थे। इसमें सागरदत्त का मुर्गा जातिवान् था। बुद्धिल का मुर्गा जातिवान् नहीं था। थोड़ी देर युद्ध हो जाने के बाद ब्रह्मदत्त ने बुद्धिल के मुर्गे के पैरों में यमराज की दूती जैसी तीक्षण लोहे की सूईयां देखी। उसका बुद्धिल को पता चलते ही उसने गुप्त रीति से अर्द्धलक्ष द्रव्य ब्रह्मदत्त को देना चाहा। तथापि उसे न स्वीकारते हुए यह वृत्तान्त लागों को ज्ञात करा दिया। पश्चात् ब्रह्मदत्त ने उन लोहे की सुईयों को खींच कर बुद्धिल के मुर्गे को सागरदत्त के मुर्गे के साथ पुनः युद्ध करने को प्रेरित किया। तब सूई बिना बुद्धिल के मुर्गे को सागरदत्त के कूकड़े ने क्षणभर में भग्न कर डाला। कपटी की जय कहां तक हो? इस प्रकार हुई विजय से हर्षित हुआ सागरदत्त ब्रह्मदत्त और मंत्री पुत्र कि जो विजय दिलाने के मित्र रूप हो गये थे, उसको अपने रथ में बिठाकर अपने घर ले गया। वहाँ वे अपने घर की तरह बहुत दिन रहे। एक बार बुद्धिल के सेवक ने आकर वरधनु से कुछ कहा। उसके जाने के बाद वरधनु ने ब्रह्मदत्त से कहा कि 'देखो! बुद्धिल ने जो अर्धलक्ष द्रव्य मुझे देने को कहा था, वह आज भिजवाया हैं। ऐसा कह निर्मल, स्थूल और वर्तुलाकार मोतियों का जो शुक्र के तारामंडल का अनुसरण करता था एक हार उसे बताया। उस हार के साथ अपने नाम से अंकित एक लेख ब्रह्मदत्त को दिखाई दिया। उसी समय मूर्तिमान् संदेशा हो ऐसी वत्स! नाम की तापसी भी वहाँ आई। वे दोनों कुमार के मस्तक पर अक्षत डालकर आशीर्वाद देने लगी और वरधनु को एक ओर ले जाकर कुछ बात कहकर चली गई। तब मंत्रीपुत्र ने ब्रह्मदत्त से कहा –

''इस हार के साथ जो लेख था, उसका प्रत्युत्तर लेने वह आई थी।'' तब मैंने पूछा कौन ब्रह्मदत्त? तब वह बोली 'इस नगर में एक सेठ की रत्नवती नामकी पुत्री हैं। परंतु वह रूपान्तर करके कन्या रूप लेकर मानो रति ही पृथ्वी पर आई हो ऐसी रूपवंत है। जिस दिन सागरदत्त और बुद्धिल के मुर्गे का युद्ध था, उस समय उसने ब्रह्मदत्त को देखा था। तभी से कामार्त्त होकर तडफती वह बाला कहीं भी शांति नहीं पा रही है। और ब्रह्मदत्त ही मेरा शरण हो, ऐसा बोलती रहती है। एक बार उसने स्वयं लेख लिख कर हार के साथ मिलाकर मुझे दिया है और कहा कि यह ब्रह्मदत्त को भेज दो' तब मैंने दासी के साथ वह लेख भिजवाया और उसके समाचार देकर उसे आश्वासन दिया। इस प्रकार उसकी बात सुनकर मैंने भी आपके नाम का प्रतिलेख देकर उसे विदा दी थी। वरधनु से ऐसी बात सुनकर ब्रह्मदत्त भी दुर्वार काम के ताप से पीड़ित हो गया और मध्याह्न सूर्य की किरणों से तप्त हाथी के समान वह सुख से रह नहीं सका।

(गा. 305 से 326)

इसी समय में कौशांबी नगरी के स्वामी के पास दीर्घराजा के भेजे हुए सुभट नष्ट हुए शल्य की तरह ब्रह्मदत्त और वरधनु की खोज में आए। कौशांबी के राजा की आज्ञा से यहाँ भी दोनों की खोज होने लगी। इसकी खबर पड़ते ही सागरदत्त ने उनको निधान के जैसे भूमिगृह में छिपा दिया। उनकी वहाँ से बाहर जाने की इच्छा होने पर उसी रात्री में रथ में बिठाकर उनको कुछ दूर ले गया। इसके पश्चात् लौटकर कर आ गया। दोनों जने वहाँ से आगे चले। वहां नंदनवन में देवी के समान उस नगरी के उद्यान में एक सुन्दर स्त्री उनको दिखाई दी। उन दोनों को देखकर 'तुमको आने में इतनी देर क्यों लगी? ऐसा उसने आदर से पूछा। तब उन दोनों में विस्मित होकर पूछा भद्रे! हम कौन हैं? और तू हमको किस प्रकार पहचानती हैं? वह बोली– ''इस नगरी में धनप्रभव नाम का कुबेर का सहोदर जैसा धनाढ्य श्रेष्ठी है। उनके आठ पुत्र होने के बाद बुद्धि के आठ गुण उपरांत विवेकलक्ष्मी की प्राप्ति होती है, वैसे मैं एक पुत्री हुई हूँ। उत्कट यौवनवती

होने पर मैंने वर की प्राप्ति के लिए इस उद्यान में एक यक्ष की बहुत प्रकार से आराधना की क्योंकि 'स्त्रियों को पतिप्राप्ति सिवा अन्य कोई भी मनोरथ होता नहीं है। 'भक्ति से संतुष्ट हुए यक्ष ने मुझे वरदान दिया कि ब्रह्मदत्त नामक चक्रवर्ती तेरा भर्ता होगा। जो सागर और बुद्धिल श्रेष्ठी के मुर्गे को बराबर जोड़ी देनेवाला श्रीवत्स का चिह्न वाला और मित्र के साथ रहने वाला होगा। वही ब्रह्मदत्त है ऐसे तू पहचान जाना। साथ ही मेरे इस मंदिर में ही तेरा ब्रह्मदत्त से मिलाप होगा। यक्ष के इन वचनों के प्रमाण से आप मुझे यहाँ मिले हो। इसलिए हे सुंदर! वे ब्रह्मदत्त तुम्ही हो। इस लिए यहाँ पधारो। और जल के प्रवाह जैसे आपके संग से चिरकाल से हुई विरहाग्नि से पीड़ित हुई मुझे शांत करो। ब्रह्मदत्त ने वैसा करना अंगीकार किया। पश्चात् उसके अनुराग की तरह उसे भी रथ में बैठाकर आगे जाते जाते यहाँ से कहाँ जायेंगे? ऐसा उसने पूछा। तब वह बोली कि 'यहाँ मगधपुर में धनावह नाम के मेरे काका रहते हैं, वे अपना बहुत सत्कार करेंगे, अतः वहाँ चले। इस प्रकार रत्नावती के कथनानुसार ब्रह्मदत्त ने मंत्रीपुत्र को सारथी बनाकर उस ओर घोड़े हंकाये।

(गा. 327 से 341)

क्षणमात्र में तो कौशांबी के प्रदेश का उल्लंघन करके ब्रह्मदत्त आदि मानो यमराज का स्थान हो, ऐसी भयंकर अटवी में आ पहुँचे। वहाँ सुकंटक और कंटक नाम के दो चोर जो सेना के नायक थे, उन्होंने जैसे हाथी श्वान को रोकता है, वैसे ब्रह्मदत्त को रोका, और मानों कालरात्रि के दो पुत्र हो, वैसे वे सैन्य सहित चोर नायकों ने आकाश में मंडप रचे वैसे बाणों से उनको आच्छादन कर दिया। उस समय जैसे मेघ जलधारा से दावानल का निषेध कर देता है, जैसे धनुष धारण किए ब्रह्मदत्त ने गर्जना करके बाणों द्वारा उन चोरों की सेना को निषेधा। कुमार के बाणों की वर्षा से वे दोनों चोर नायक सैन्य लेकर भाग गये। क्योंकि सिंह प्रहार करे तब हरिण कैसे टिक सके? मंत्रीपुत्र ने कुमार को कहा कि 'स्वामिन्! युद्ध करके थक गये होंगे, अतः दो घड़ी इस रथ में ही सो जाओ। हाथी जैसे हथिनी के साथ पर्वत

के नितंब पर सो जाता है, वैसे ही ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ सो गये। अनुक्रम से रात्रि प्रभात रूप में परिणत हुई तब वे एक नदी के समीप में आए। तब वहाँ घोड़े भी शांत होने से स्थिर हो गये और कुमार भी जागृत हुए। जगकर देखते हैं तो मंत्रीकुमार रथ के अग्रभाग में दिखाई नहीं दिये। तब वह जल लेने गया होगा। ऐसा सोचकर उसने बार–बार खूब आवाज लगाई, परंतु वापिस कोई जवाब मिला नहीं। इधर रथ के अग्रभाग को भी पंकिल देखा। तभी अरे मैं तो छला गया। ऐसा विलाप करता हुआ रथ में ही मूर्च्छित होकर निढल हो पड़ा। थोड़ी देर में संज्ञा पाकर वह बोला अरे मित्र वरधनु तू कहां गया? इस प्रकार आक्रांत करते हुए ब्रह्मदत्त को रत्नवती समझाने लगी। हे नाथ! आपके मित्र वरधनु मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए, ऐसा निश्चय ही समझना। इसलिए वाणीमात्र से भी उनका अमंगल करना उचित नहीं है। वे अवश्य ही कार्य के लिए किसी स्थान पर गये होंगे, क्योंकि उत्तम मंत्री स्वामी को पूछे बिना भी स्वामी के कार्य के लिए चले जाते हैं। आप की भक्ति से ही रक्षण किये गए वे अवश्य ही लौट आयेंगे, क्योंकि सेवकों को स्वामी भक्ति का प्रभाव ही कवच रूप होता है। फिर हम जब स्थानक पर पहुंच जायेंगे, तब मनुष्यों को भेजकर उनकी गवेषणा करायेंगे। अभी इस यमराज जैसे वन में अधिक रूकना योग्य नहीं है। ऐसे रत्नवती के कहने पर ब्रह्मदत्त ने अश्वों को हँकारे। थोड़े ही समय में मगध देश की भूमि की सीमा के गांव में आ पहुँचे। अश्व को और पवन को क्या दूर है?

(गा. 342 से 355)

उसी गाँव का नायक उस समय सभा में बैठा था। वह ब्रह्मदत्त को देखते ही अपने घर पर ले गया। महापुरुष अनजान हो तो भी मात्र मूर्ति के दर्शन से ही पूजे जाते हैं। ग्रामाधीश ने पूछा कि आप शोकग्रस्त कैसे हो? ब्रह्मदत्त ने कहा कि मेरा एक मित्र चोर लोगों के साथ युद्ध करते करते कहीं चला गया है। ग्रामाधीश ने कहा कि सीता की खोज में जैसे हनुमान गये थे, वैसे ही मैं आपके मित्र को खोजकर ले आऊँगा। इस प्रकार कहकर वह ग्रामाधीश उस महाटवी में सर्वत्र घूम आया, उसने वापस आकर कहा, सम्पूर्ण वन में कोई भी मनुष्य दिखाई नहीं दिया। मात्र प्रहार करते समय

गिरा हुआ एक बाण मेरे हाथ में आया है। उसके ये वचन सुनकर ''अवश्य ही वरधनु मारा गया है, इस प्रकार चिंता करते हुए ब्रह्मदत्त की शोक जैसी ही अंधकारयुक्त रात्रि पसार हो गई।'' रात्रि के चतुर्थ प्रहर में वहाँ चोर आए। वे कामदेव से जैसे प्रवासी स्वस्थान पर चले जाते हैं, वैसे ही जैसे प्रवासी स्वस्थान पर चले जाते हैं, वैसे ही वे कुमार के बल से भग्न होकर भाग गये।

(गा. 356 से 364)

दूसरे दिन उस ग्रामाधीश को लेकर अनुक्रम से कुमार वहाँ से राजगृही पुरी में आए। वहाँ नगर के बाहर तापस के आश्रम में रत्नवती को छोड़कर उसने नगर में प्रवेश किया। नगर में घुसते ही एक हवेली के झरोखे में बैठी मानो साक्षात् रति और प्रीति हो ऐसी दो नवयौवना स्त्रियां उसे दिखाई दीं। वे स्त्रियाँ कुमार को देखते ही तुरंत ही बोली कि ''अरे भद्र! उस समय प्रेमीजन को छोड़कर चले जाना क्या आपको योग्य लगा?'' ब्रह्मदत्त बोला कि ''मेरे प्रेमी जन कौन? मैंने उनका कब त्याग किया? मैं कौन हूँ, और तुम दोनों कौन हो?'' वे बोली, ''हे नाथ! प्रसन्न हो जाओ और यहाँ पधारो और विश्राम लो।'' उनके ऐसे मधुर आलाप से ब्रह्मदत्त मन से उनके घर में गया। ब्रह्मदत्त के थोड़ी देर विश्राम कर लेने के बाद उसने स्नान और भोजन कराया। इसके बाद वे दोनों अपनी सत्यकथा कहने लगी।

(गा. 365 से 369)

''विद्याधरों का निवास स्थान, सुवर्णमय शिलाओं से निर्मल और मानो पृथ्वी का तिलक हो ऐसा वैताढ्य नाम का पर्वत है। उसके दक्षिण श्रेणी में एक शिवमंदिर नाम के नगर में अलकापुरी में कुबेर के समान ज्वलनशिख नामक राजा है। मेघ को विद्युत की भांति उस विद्याधरपति राजा को कांति से दिशाओं के मुख को प्रकाशित करने वाली विद्युतच्छिखा नाम की प्रिया है। उनके नाट्योन्मत्त नाम का पुत्र और उससे छोटी खंडा और विशाखा नाम की हम दो प्राणप्रिय पुत्रियाँ हैं। एक बार अपने महल में हमारे पिता उनके अग्निशिख नामक मित्र के साथ वार्तालाप कर रहे

थे। इतने में आकाश में अष्टापद गिरि जाते हुए देवतागण उनको दिखाई दिये। तब हमको और उनके मित्र अग्निशिख को लेकर वे तीर्थयात्रा करने चले। 'इष्टजनों को अवश्य ही धर्म कार्य में जोड़ना चाहिए।' हम अष्टापद गिरि पर पहुंचे, तब वहाँ मणिनिर्मित, अपने अपने मान और वर्ण सहित चौवीस तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के दर्शन हुए। फिर यथाविधि स्नान विलेपन और पूजा करके तीन प्रदक्षिणा पूर्वक और समाहित रूप से उनको वंदना की। फिर हम प्रासाद में से निकलकर आगे चले। तब रक्त अशोकवृक्ष के नीचे मूर्तिमान तप और शम हो, वैसे दो चारण श्रमण मुनि को विराजमान देखा। उनको नमस्कार करके उनके समक्ष बैठकर अज्ञान रूप अंधकार को छेदने में कौमुदी (चंद्रिका) जैसी धर्मदेशना श्रद्धापूर्वक हमने श्रवण की। देशना के अंत में अग्निशिखा ने पूछा कि 'इन दोनों कन्याओं का पति कौन होगा?' वे बोले कि 'जो इनके भाई को मार डालेगा, वह इनका भावि पति होगा। मुनिश्री के ऐसे वचनों से 'हिम से चंद्र की भांति हमारे पिता ग्लानि से भर गये।' तब हमने वैराग्यगर्भ वाणी से कहा कि 'हे तात! आपने अभी तो देशना में संसार की असारता के विषय में सुना है, तो अब खेद रूपी शिकारी से किसलिए पराभव को प्राप्त होते हो?' तथा फिर हमको भी 'ऐसे विषयसुख की जरूरत नहीं है।' ऐसा कहकर हम वहाँ से आगये और हम सहोदर बंधु की रक्षा में निरन्तर तत्पर रहे।

(गा. 370 से 383)

एक बार हमारे भाई ने घूमते घूमते आपके मामा पुष्पचूल की कन्या पुष्पवती को देखा। उसके अद्‌भुत रूप लावण्य ने हमारे भाई का मन हर लिया। इसलिए उस दुबुर्द्धि ने उसका हरण कर लिया। 'बुद्धि कर्मानुसारिणी।' पुष्पवती का हरण करके लाने पर भी उसकी दृष्टि को सहन न कर सकने से वह स्वयं विद्या साधने गया। उसके पश्चात् की वार्ता तो आप स्वयं वस्तुतः जानते ही हो। पश्चात् पुष्पवती ने हमारे पास आकर हमारे भाई के मृत्यु के समाचार हमको दिये एवं धर्माक्षरों से उसने हमारे शोक का निवारण किया।

(गा. 384 से 387)

तब उसने कहा कि आपके बंधु का हनन करने वाले ब्रह्मदत्त यहाँ आने वाले हैं, वे आप दोनों के भर्तार हों, क्योंकि मुनि की वाणी अन्यथा नहीं होती। हमने उस बात को स्वीकार किया। तब, पुष्पवती ने आपको आने की संज्ञा से रसभवृत्ति (गलती) से भूल कर रक्त के बदले श्वेत ध्वजा दिखा दी। इससे आप हमको छोड़कर चले गये। हमारे विपरीत भाग्य योग से आप पधारे नहीं। सर्वत्र आपको ढूँढ़ने के लिए घूमते हुए हमने किसी भी स्थान पर आपको देखा नहीं। इससे निर्वेद प्राप्त कर हम यहाँ पर आकर रहने लगी। हे स्वामिन्! ''आज हमारे पुण्य से आप यहाँ पधारे हो।'' पूर्व में पुष्पवती के कथनानुसार हमने आपका वरण कर ही लिया है। अतः हमारी गति आप एक ही हो। अब हमारा पाणिग्रहण करो। ऐसे उनके प्रेम से भरे वचनों को सुनकर ब्रह्मदत्त ने गांधर्व विधि से उनको परणा। ''सरिताओं का पात्र जैसे समुद्र होता है, वैसे स्त्रियों का पात्र भोगी पुरुष है।''

(गा. 388 से 392)

गंगा और पार्वती के साथ महादेव के तुल्य उन दोनों स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते हुए ब्रह्मदत्त ने वह रात्री वहाँ आनंद में निर्गमन की। इसके पश्चात् उन दोनों से कहा कि 'जब तक मुझे राज्यलाभ न हो, तब तक तुम दोनों को पुष्पवती के साथ रहना है।' ऐसा कहने पर, उन दोनों को उसके पास जाने की आज्ञा दी। उन्होंने वैसा करना स्वीकार किया। इतने में वह लोक और मंदिर आदि सर्व गंधर्वनगर की भांति तत्काल अदृश्य हो गये। ब्रह्मदत्त तापसों के आश्रम में रखी रत्नवती को लेने गया। वहाँ वह दिखाई नहीं दी। परंतु वहाँ एक सुंदर आकृति वाला एक पुरुष था। उससे उसने पूछा कि 'हे महाभाग! कल यहाँ एक दिव्य वस्त्र को धारण करने वाली और रत्नाभूषण से शोभित किसी स्त्री को तुमने देखा है। उसने कहा कि 'हे नाथ! हे नाथ! ऐसा पुकारती, रूदन करती एक स्त्री यहाँ मुझे दिखाई दी थी। हमारे यहाँ की स्त्रियों ने उसे पहचान कर उसको यहाँ से ले जाकर उसके काका को सौप दी है। उससे पूछा कि क्या आप उसके पति हैं? ब्रह्मदत्त ने हाँ कहा। तब वह पुरुष ब्रह्मदत्त को आग्रहपूर्वक रत्नवती के काका

के घर ले गया। रत्नवती के काका ने विपुल समृद्धि से ब्रह्मदत्त और रत्नवती का विवाह महोत्सव किया। धनवान पुरुषों को सभी काम सरल है। वहाँ ब्रह्मदत्त उसके साथ विषयसुख भोगने लगा।

(गा. 393 से 400)

एक बार ब्रह्मदत्त ने अपने मित्र वरधनु का उत्तरकार्य करना प्रारंभ किया। उसने साक्षात् भूत जैसे ब्राह्मण को जिमाया। उसी समय अकस्मात् ब्राह्मण के वेश में वरधनु भी वहाँ आ पहुँचा, एवं ब्रह्मदत्त को इस प्रकार कहने लगा कि "यदि आप मुझे भोजन दोगे तो वह साक्षात् वरधनु को ही मिलेगा।" ऐसी अमृत जैसी वाणी श्रवण करके ब्रह्मदत्त ने तत्काल ही उसके सामने देखा, और उसे पहचान लिया। मानों दो शरीर को एक हो गये हों, वैसा उसने उसका आलिंगन किया। हर्षाश्रु से नहलाता हुआ, वह उसे अंतर्गृह में ले गया। बाद में कुमार ने उसे उसका वृत्तांत पूछा। तब वह अपना वृत्तांत कहने लगा – "हे मित्र! तुम तो सो गए बाद में दीर्घराजा के सुभटों की तरह चोर लोगों ने मुझे अवरुद्ध कर लिया। वृक्ष के अंदर रहे एक चोर ने मुझे बाण मारा। इससे मैं पृथ्वी पर गिर पड़ा। और लताओं के अंतर में ढंक गया। मुझे उन्होंने देखा नहीं। तो आये हुए चोर सब चले गए। बाद में जल में मत्स्य की तरह वृक्षों में छुपता छुपता मैं अनुक्रम से एक गांव में आया। उस गांव के नायक के पास से आपके समाचार लेकर चलता चलता मैं यहाँ आया हूँ। दैवयोग से मेघ को मयूर के समान मैंने तुमको यहाँ देखा।" ब्रह्मदत्त ने कहा 'हे मित्र! नपुंसक के तुल्य पुरुषार्थ किये बिना, इस हालत में ऐसे कहाँ तक मुझे भटकते रहना हैं?

(गा. 401 से 409)

इसी समय कामदेव के साम्राज्यभूत और मधु के समान युवकजनों में मद को उत्पन्न करनेवाला वसन्तोत्सव प्रगट हुआ। इतने में एक दिन मानो काल का ही अनुज बंधु हो, वैसा राजा का एक उन्मत्त हाथी खूंटा उखाड़ कर, सांकल तोड़कर सर्व जनों को त्रास देता हुआ छूट गया। उस हाथी ने नितंब के भार से स्खलित गति से चलती हुई एक कन्या को कमलिनी

के जैसे खींचकर अपनी सूंड़ में पकड़ लिया। जिससे शरणार्थी के समान वह कन्या दीन नेत्रों से पुकार करने लगी। यह सुनकर सर्वत्र दुःख बीज के अक्षर जैसा हाहाकार मच गया। उस वक्त अरे मातंग! तू वास्तव में मातंग (चांडाल) ही है, नहीं तो स्त्री को पकडते तुझे लज्जा क्यों नहीं आती? ऐसा कहता हुआ ब्रह्मदत्त उसके सामने गया, तो हाथी उस कन्या को छोड़कर ब्रह्मदत्त के सामने दौड़ा। ''ब्रह्मदत्त एकदम उछलकर उसके दांतरूपी निसरणी पर पैर रखकर लीलामात्र में तो उसके ऊपर चढ़ गया, और आसन लगा कर बैठ गया।'' फिर वाक्य से, पैर से, अंकुश से और विज्ञान से कुमार ने उस हाथी को योगी के समान योग के द्वारा उसे वश में कर लिया। लोगों ने ठीक किया, ठीक किया, ऐसा बोलते हुए जयनाद किया। तब ब्रह्मदत्त ने हथिनी की तरह उस हाथी के खूंटे के पास ले जाकर बांध दिया। उस वक्त वहाँ राजा आया और कुमार को देखकर विस्मित हुआ? क्योंकि उसकी आकृति और पराक्रम किसको विस्मित नहीं करें? राजा बोला – यह पुरुष कौन है? क्या गुप्त रीति से सूर्य और चंद्र तो नहीं आए है? ऐसा विचार करते ही रत्नवती के काका ने उनके पास जाकर सर्व हकीकत कह सुनाई। तब अपनी आत्मा को पवित्र मानने वाले राजा ने जैसे चंद्र को दक्ष प्रजापति ने दिया, वैसे ही उत्सव पूर्वक अपनी कन्याएँ ब्रह्मदत्त को दीं। उनको परणकर वह सुखपूर्वक वहाँ रहने लगा।

(गा. 410 से 420)

एक बार एक स्त्री ने कुमार के पास आकर मस्तक पर वस्त्र का पल्ला फिराकर कहा कि ''हे वत्स! इस नगरी में लक्ष्मी से कुबेर भंडारी जैसा वैश्रवण नामक एक धनाढ्य श्रेष्ठी रहता है, उसके समुद्र की लक्ष्मी जैसे श्रीमती नामकी एक पुत्री है।'' राहू के पास से चंद्रकला के समान तुमने जब से उस राजकन्या को उन्मत्त हाथी से छुड़ाया है, तब से वह बाला तुम्हारा ही अभिलाष करती हुई तरस रही है। इसलिए जैसे उस राजकन्या को हाथी से बचाया है, वैसे ही उस बाला को कामदेव से भी बचाओ, तथा जिस तरह उस का हृदय ग्रहण किया है, वैसे ही उसकी पाणि को भी ग्रहण करो।

तब कुमार ने विविध विवाह मंगल से उसके साथ विवाह किया। और मंत्री पुत्र वरधनु भी सुबुद्धि मंत्री की कन्या नंदा को परणा। वहाँ रहते हुए वे दोनों वीर शक्ति से पृथ्वी पर प्रख्यात हुए।

(गा. 421 से 426)

बहुत दिन के पश्चात् वे वाराणसी नगरी में आए। ब्रह्मदत्त को आया सुनकर वाराणसी का राजा कटक ब्रह्मा के समान गौरव से सामने आया और उनको अपने घर ले गया। अपनी कटकवती नाम की कन्या और साथ ही मूर्तिमान् जयलक्ष्मी जैसी चतुरंग सेना ब्रह्मदत्त को प्रदान की। उसको वहाँ आया जानकर चंपानगरी का राजा करेणदत्त, धनुमंत्री एवं अन्य भगदत्त आदि राजा भी वहाँ आए। पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने जैसे सुषेण को सेनापति बनाया था, वैसे ही वरधनु को सेनापति बनाकर दीर्घराजा को कंटीलें पंथ (मृत्यु मार्ग) में भेजने के लिए प्रयाण किया। उस समय दीर्घराजा के शंख नाम के दूत ने आकर कटक राजा को कहा कि ''दीर्घराजा के साथ तुम्हारी बाल्य मैत्री है, वह छोड़ देना उपयुक्त नहीं है।'' यह सुनकर कटक राजा बोला कि– हे दूत! पूर्व में ब्रह्मराजा सहित हम पांच सहोदर जैसे मित्र थे। ब्रह्म राजा के स्वर्ग में जाने के बाद उसका पुत्र बालक होने से हमने उनका ही राज्य दीर्घ राजा को सौंपा। तब वह तो मानो उसका ही राज्य हो, वैसे उसे भोगने लगा, इसलिए इस दीर्घ को धिक्कार हो, क्योंकि संभालने को दिये पदार्थ को तो डाकण भी खाती नहीं है। ब्रह्मराजा के पुत्र रूप धरोहर के संबंध में दीर्घराजा ने जो अतिपाप आचरण किया है, वैसा पाप कोई चांडाल भी नहीं करे। इसलिए 'हे शंख! तू जाकर तेरे दीर्घ राजा से कह कि ब्रह्मदत्त सैन्य लेकर आ रहा है, इसलिए उसके साथ युद्ध कर अथवा भाग जा।' इस प्रकार कह कर दूत को विदा किया।

(गा. 427 से 435)

ब्रह्मदत्तकुमार अविच्छिन्न रूप से प्रयाण करते हुए कांपिल्यपुर के पास आ पहुँचे। आकाश की सहायता द्वारा सूर्य के साथ मेघ की तरह दीर्घराजा ने उसके साथ युद्ध करने की इच्छा की और बड़ा सर्प जैसे दंड से आक्रान्त

होकर बिल से बाहर निकलता है, वैसे रण में सारभूत ऐसे सर्व बल से वह नगर से बाहर निकला। उसी समय ब्रह्मराजा की स्त्री चुलनी को अत्यन्त वैराग्य उत्पन्न हो गया। उसने पूर्णा नामकी प्रवर्तिनी के पास व्रत लिया और अनुक्रम से मोक्ष में गई। इधर रणभूमि में जैसे बड़ा मगर नदी के छोटे मगरों को मार डालता है, वैसे ही दीर्घराजा के अग्र सुभटों को ब्रह्मदत्त के सुभटों ने मार डाला। यह देख क्रोधद्वारा उग्र भृकुटी से भयंकर मुख करता दीर्घ वराह की तरह शत्रु के पीछे दौड़ा और प्रहार करने लगा। ब्रह्मदत्त का पद दल, रथ और सवार प्रमुख सैन्य को नदी के प्रवाह समान वेगवाले दीर्घराजा ने बिखेर दिया। उस वक्त क्रोध से लाल नेत्र करता हुआ ब्रह्मकुमार हाथी के समान गर्जना करता हुआ दीर्घराजा के सामने स्वयं युद्ध करने के लिये आया। प्रलयकाल के समुद्र के समान कल्लोल करते हुए कल्लोल को तोड़े वैसे दोनों बलवान वीर एक दूसरे के अस्त्रों को तोड़ने लगे। उस समय सेवक की तरह अवसर को जानकर कांति को प्रसारता और दिशाओं के समूह को अर्थात् सर्व दिशाओं में रहे राजाओं को जीते वैसा चक्ररत्न ब्रह्मदत्त के समीप में उत्पन्न हुआ। जिससे तत्काल ब्रह्मकुमार ने उस चक्र से दीर्घराजा के प्राण को हर लिया। बिजली को चंदन मारने के लिए अन्य साधनों की क्या जरूरत है। उस समय इस चक्रवर्ती की जय हो, ऐसे चारणभाट की तरह बोलते देवताओं ने ब्रह्मदत्त पर पुष्पवृष्टि की। पश्चात् पिता–माता और देवताओं की तरह पुरजनों के समक्ष ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने अमरावती में इंद्र प्रवेश करे, वैसे कांपिल्यपुर में प्रवेश किया। उसके पश्चात् अपनी पूर्व परिणीत सर्व स्त्रियों को वहाँ बुला लिया। उन सर्व स्त्रियों में कुरुमती को स्त्रीरत्न रूप से स्थापित किया।

(गा. 436 से 448)

अन्यदा भरतक्षेत्र को साधने के लिए ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती चक्र के पीछे अगणित सैन्य सहित चल दिये।

(गा. 449)

पूर्व में नृपश्रेष्ठ श्री ऋषभदेव जी ने राज्य त्याग कर दीक्षा लेते समय सर्व पुत्रों में बड़े पुत्र भरत को मुख्य राज्य दिया था, तथा अन्य निन्यानवें

पुत्रों को अलग अलग देश बांट कर चारित्र लेकर तपस्या करते हुए मोक्ष गए थे। तब से ही उन पुत्रों के नाम के अनुसार उन उन देशों के नाम रखे गए थे। वे इस प्रकार– पूर्व दिशा में प्रगम, मस्तक, पुत्रांगारक, भल्ल, अंग, अर्मलय, भार्गव, प्राग्योतिष, वंश, मगध मासवर्तिक, दक्षिण दिशा में बाणमुक्त, वैदर्भ, वनवासिक, महीषक, वनराष्ट्र, तामिक, अश्मदंडक, कलिंग, ईषिक, पुरुष, मूलक, कुंतल, पश्चिम दिशा में दुर्ग, सुर्पारक, अर्बुद, आर्यकल्ली, वनायस्त, कार्क्षिक, नर्तसारिक, माहेष, रूरू, कच्छ, सुराष्ट्र, नर्मद, सारस्वत, तापस, उत्तर दिशा में कुरुजांगल, पंचाल, सूरसेन, पद्मर, कलिंग, काशी, कौशल, भद्रकार वृक, अर्थक, विगर्त, कौसल, अंबष्ट, साल्व, मत्स्य, कुलीयक, मौक, वाल्हीक, कांबोज, मधु, मद्रक, आत्रेय, यवन, आभीर, वान, वानस, कैकय, सिंधु, सौवीर, गांधार, काथ, तोष, दसेरक, भारद्वाज, चमू, अश्वप्रस्थाल, तार्णकर्णक, त्रिपुर, अवंति, चेदि, किष्किन्ध, नैषध, दशार्ण, कुसुमर्ण, नौपाल, अंतप, कोसल, पदाम विनिहोत्र वैदिश, यह सभी देश विंध्याचल के पृष्ठ भाग में हैं। विदेह, भत्स, भद्र, वज्र, सिंडिंभ, सैडव, कुत्स और भंग ये देश पृथ्वी के मध्य भाग में हैं।

(गा. 450 से 462)

प्रारंभ में मगधाधीश को साधकर वरदाम, प्रभास, कृतमाल और अन्य देवों को भी ब्रह्मदत्त ने अनुक्रम से साध लिया। तत्पश्चात् ब्रह्मदत्त चक्री ने चक्र का अनुसरण करके निन्याणवें देशों को भी स्वयमेव साध लिया और वहाँ के राजाओं को भी वश में कर लिया। भिन्न–भिन्न स्वामियों का उन्मूलन करके षड्खंड पृथ्वी का स्वयं एक ही स्वामी होकर उन सबको एक खंड जैसा कर लिया। तब सर्व राजाओं के मुकुट पर जिसका शासन लालित था, ऐसा ब्रह्मदत्त सर्व शत्रुओं का दमन करके कांपिल्यपुर की ओर चल दिया। "जिस सैन्य से पृथ्वी को और उससे उड़ी हुई रज से आकाश को आच्छादन करते थे। छड़ीदार जैसे आगे चलता चक्र जिसे मार्ग बताता था, ऐसे चौदह रत्नों का स्वामी और नवनिधियों के ईश्वर ब्रह्मदत्त चक्री अविच्छिन्न प्रयाण से चलते हुए अनुक्रम से नगर के समीप आ पहुँचा।"

तब 'वांजित्रों की ध्वनि के बहाने मानो स्वयं हर्ष से संगीत करता हो', ऐसे कांपिल्य नगर में ब्रह्मदत्त ने प्रवेश किया। वहाँ सर्व दिशाओं से आकर एकत्रित हुए बत्तीस हजार राजाओं ने भरतचक्री के समान उसका चक्रवर्ती के समान द्वादश वार्षिक अभिषेक करना प्रारंभ किया।

(गा. 463 से 470)

पूर्व में जब ब्रह्मदत्त एकाकी विचरण करता था, उस वक्त कोई ब्राह्मण उसकी सहायता करके उसके सुख दुःख में सहभागी हुआ था। उस वक्त ब्रह्मदत्त ने उसे कहा था कि 'जब मुझे राज्य की प्राप्ति हो तब मुझे मिलना ऐसा संकेत किया होने से वह ब्राह्मण इस समय ब्रह्मदत्त के पास आया।' परंतु राज्याभिषेक की व्याग्रता के कारण उसका राजमहल के अंदर प्रवेश नहीं हो सका। इससे वह राजद्वार पर ही बैठ कर राज्य की सेवा करने लगा। राज्याभिषेक की प्रक्रिया संपूर्ण होने के पश्चात् ब्रह्मदत्त चक्री राजमहल से बाहर निकले। तब वह ब्राह्मण अपनी पहचान के लिए पुराने जूते की ध्वजा करके खड़ा था। अन्य ध्वजाओं से विलक्षण ध्वजावाले उस ब्राह्मण को देखकर चक्री ने छड़ीदार को पूछा कि 'अपूर्व ध्वजा करने वाला यह पुरुष कौन है?' छड़ीदार ने कहा कि ''बारह वर्ष से आपकी सेवा करने वाला यही पुरुष है।'' ब्रह्मदत्त ने उसे बुलाकर पूछा – यह क्या है? वह ब्राह्मण बोला – ''हे नाथ! आपके साथ घूम–घूम कर मेरे इतने उपानह (जूते) घिस गये, तथापि आपने मुझ पर कृपा नहीं की।' चक्रवर्ती उसे पहचान कर हंस दिये एवं सेवा करने लिए राजदरबार में आने के लिए रोक न लगाने की द्वारपाल को आज्ञा दी। पश्चात् उसे सभास्थान में बुलाकर कहा कि 'भट्ट जी। कहो तुमको क्या दूँ?' ब्राह्मण बोला कि 'मुझे भोजन दो।' चक्री ने कहा कि 'ऐसा क्या मांगा? कोई देश मांग लेते। तब जिह्वालम्पट ब्राह्मण बोला कि 'राज्य का फल भी भोजन ही तो है, अतः मुझे आपके घर से आरंभ करके सम्पूर्ण भरतक्षेत्र में घर घर भोजन और एक दीनार मिले ऐसा हुक्म करें।' यह सुनकर चक्री ने विचार किया कि 'इस ब्राह्मण की योग्यता, ऐसी ही लगती है। तब उसे अपने घर से पहले

दिन दीनार और भोजन दिया। राजा की आज्ञा से वह ब्राह्मण भरत क्षेत्र में अनुक्रम से सभी घरों में भोजन करने लगा। ऐसा सोचने लगा कि सर्वत्र भोजन करके पुनः राजा के घर खाऊँगा। परंतु उसे चिरकाल तक राजभोजन प्राप्त नहीं हुआ। ऐसी रीति में व्यर्थ काल व्यतीत करता हुआ वह भट्ट किसी समय मृत्यु को प्राप्त हो गया।

(गा. 471 से 484)

एक दिन ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती नाट्य संगीत देखने राज्यसभा में बैठे थे। इतने में एक दासी ने आकर देवांगनाओं से गुम्फित हो वैसी एक विचित्र गेंद उनको प्रदान की। उसे देखकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को विचार आया कि 'ऐसा पुष्पगोलक पूर्व में किसी स्थान पर मैंने देखा है।' ऐस बारम्बार ऊहापोह करते उसे 'पूर्व के पांच भव ज्ञात कराने वाला जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ।' तत्काल ही वह मूर्च्छित हो गया। उस वक्त उसे ज्ञात हुआ कि पूर्व में ऐसा गोलक मैंने 'सौधर्म देवलोक' में देखा था। तब चंदन जल से सिंचन करने पर स्वस्थ होने पर वह चिंतन करने लगा कि ' अब मेरे पूर्व जन्म का सहोदर मुझे कहाँ मिलेगा? तब उसे पहचानने के लिए ब्रह्मदत्त ने एक अर्ध श्लोक की समस्या इस प्रकार रची – ''आश्वदासौ मृगौ हंसौ मातंगावमरौ तथा'' इस अर्द्ध श्लोक की समस्या पूर्ति जो कर देगा, तो उसे मैं आधा राज्य दूँगा। ऐसी घोषणा पूरे नगर में कराई। सर्व लोगों ने यह आधा श्लोक अपने नाम की तरह कंठस्थ किया, परन्तु कोई उसे पूर्ण न कर सका।

(गा. 485 से 491)

इधर 'चित्र' का जीव जो पुरिमताल नगर में एक धनाढ्य के घर पुत्र रूप में अवतरित हुआ। उसे भी जातिस्मरण ज्ञान होने से दीक्षा लेकर विहार करते–करते यहाँ आ पहुँचे। नगर के बाहर एक मनोरम उद्यान में एक प्रासुक स्थल पर वे मुनि रहे। वहाँ जल की रहट घुमाने वाला मनुष्य अर्ध श्लोक बोल रहा था। वह उन मुनि को सुनाई दिया। इससे उन्होंने तुरंत उत्तरार्ध पूरा किया। '' एषा नैष्ठिका जाति रन्योऽन्याभ्यां वियुक्तयोः।'' यह

पूर्ण करके वे भी इसे बोलने लगे। यह सुनकर उत्तरार्ध जानकर उस रहट वाले मनुष्य ने राजा के समक्ष आकर वह श्लोक पूर्ण किया। तब चक्री ने पूछा कि '' इस उत्तरार्ध का कर्ता कौन है?'' तब उसने उन मुनि का नाम लिया। तब उस पुरुष को विपुल ईनाम देकर चक्री अति उत्कंठा से अभिनव वृक्ष उगा हो वैसे उन मुनि को देखने के लिए वहाँ आया। पश्चात् उन मुनि का वन्दन करके अश्रु से भीगे नयनों से पूर्व जन्म की तरह स्नेहयुक्त हो वह उनके समक्ष बैठा। तब कृपा रससागर उन मुनि ने धर्मलाभ रूप आशीर्वाद देकर राजा के अनुग्रह से के लिए धर्मदेशना दी।

(गा. 492 से 498)

'' हे राजन्! इस असार संसार में कुछ भी सार नहीं है। मात्र कीचड़ में कमल तुल्य एक धर्म ही सारभूत है।'' यह शरीर, यौवन, लक्ष्मी, स्वामित्व, मित्र और बांधव ये सभी पवन से कटी पताका के छोर की तरह चंचल है। हे राजन्! जिस प्रकार 'तुमने पृथ्वी साधित करने के लिए बहिरंग शत्रुओं को जीत लिया, वैसे ही मोक्ष साधने के लिए अब अंतरंग शत्रुओं को भी जीत लो।' 'राजहंस जैसे जल को छोड़कर दूध को ग्रहण करता है, वैसे तुम भी अन्य सब को छोड़ कर यति धर्म ग्रहण करो।' ब्रह्मदत्त बोला ''हे बांधव! सद्भाग्य के योग से मुझे आपके दर्शन हुए हैं।'' यह राज्यलक्ष्मी सब आपकी ही है। अतः रुचि अनुसार भोगों को भोगो। तप का फल भोग है। यह मिल जाने पर भी 'आपको अब किसलिए तप करना चाहिए? स्वयमेव प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर भी कौन सा पुरुष प्रयत्न करता रहता है?' मुनि बोले – 'हे राजन्! मेरे घर भी कुबेर जैसी संपत्ति थी, परंतु भवभ्रमण का भय होने से उसका तृण की भांति त्याग किया है।' हे राजन्! पुण्य का क्षय हो जाने से तुम सौधर्म देवलोक से इस पृथ्वी पर आए हो। अब सर्व पुण्य का क्षय करके यहाँ से अधोगति में मत जाओ। आर्य देश में और श्रेष्ठ कुल में दुर्लभ मनुष्य जन्म प्राप्त होने पर भी इससे अमृत द्वारा पग प्रक्षालन जैसे भोगों को क्यों भोगते हो? स्वर्ग से च्यवकर हम पुण्य क्षीण हो जाने से जैसी तैसी कुयोनि में जा आए। तो भी हे राजन्! अब

बालक के जैसे क्यों मोहित होते हो? मुनि ने इस प्रकार अनेक प्रकार से प्रतिबोध किया, तथापि राजा ने प्रतिबोध प्राप्त नहीं किया। क्योंकि "नियाणा के उदयवाले को बोधित बीज का समागम कहाँ से हो?" उसे अति अबोध्य जानकर मुनि वहाँ से अन्यत्र विहार कर गये। कालदृष्ट सर्प से डंसे मनुष्य के पास मात्र कितनी देर तक बैठा रहे? पश्चात् उन मुनि ने "घातीकर्म का क्षय करके उज्ज्वल केवलज्ञान प्राप्त किया और भवोपग्राही कर्मों का हनन करके परमपद को प्राप्त किया।"

(गा. 499 से 511)

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती पद के वैभव से देवताओं में इंद्र के तुल्य राजाओं से सेवित होकर दिवस निर्गमन कर रहा था। एक बार किसी यवन राजा ने लक्षणों से प्रदान किया। सूर्य के सात घोड़ों में से एक हो, वैसा उत्तम अश्व उसे भेंट स्वरूप दिया। अश्व के अनुसार वेगवान् होगा या नहीं ऐसी उसकी परीक्षा करने के लिए ब्रह्मदत्त तत्काल ही उस पर सवार हो गया। ब्रह्मदत्त घुड़सवार, हाथी, सवार, रथी और पददल सहित उस पराक्रमी अश्व पर बैठकर नगर के बारह निकला। महान् पराक्रमी चक्री ने उस अश्व का वेग देखने के लिए कौतुक से दोनों पार्श्व से साथल पर उसे दबाया। तथा चाबुक से उस पर प्रहार किया। तब पुंठ से पवन से प्रेरित वाहन के समान चाबुक के स्पर्श से चमककर वह अश्व अतिवेग से दौड़ा और क्षणमात्र में सबके सामने अदृश्य हो गया। राजा ने उसकी लगाम बहुत खींची, तथापि वह अश्व खड़ा न रहा। असंयत इंद्रियों की तरह दौड़ कर एक महाअटवी में आया। क्रूर शिकारी प्राणियों से भी भयंकर ऐसी उस अटवी में वृक्ष से गिरे पक्षी के समान वह अश्व श्रमित होने से स्वयमेव खड़ा हो गया। उस समय राजा तृषार्त होकर इधर उधर जल की तलाश में देखने लगा। इतने में कल्लोल माला से नृत्य करता एक सरोवर उसे दिखाई दिया। अश्व पर से पलान उतार कर प्रथम उसे जलपान कराया, और तट के एक वृक्ष के मूल के साथ उस अश्व को मुखरज्जु द्वारा बांध दिया। तब वन के हाथी के समान सरोवर में प्रवेश करके ब्रह्मदत्त ने स्नान किया और कमल के आमोद से सुगन्धित व स्वच्छ जल का उसने पान किया। फिर सरोवर

से निकल कर उस तीर पर इधर उधर चहलकदम करने लगा। इतने में अद्वैत रूप लावण्य से संपत्तिवाली एक नागकन्या उसे दिखाई दी। उसके रूप से विस्मित होकर चक्री वहाँ ही खड़ा रहा। इतने में तो वट वृक्ष पर से मानो जंगम चरण (बडवाई) हो वैसा, एक गोनस जाति का नाग उतरा। उस नागकन्या ने नागिन के रूप की विकुर्वणा करके उस नाग के साथ संवास (विषयभोग) किया। यह देखकर ब्रह्मदत्त चिंतन करने लगा कि यह स्त्री स्वरूपवान् होने पर भी इस नीच सर्प पर आसक्त हुई लगती है। वास्तव में स्त्रियां और जल नीचगामी ही होता है। परंतु इस वर्णशंकर की मुझे उपेक्षा करनी योग्य नही है। क्योंकि राजा को तो पृथ्वी पर दुष्ट जनों को शिक्षा देकर सन्मार्ग पर स्थापन करना चाहिए। इस प्रकार विचार करके राजा ने उन दोनों को पकड़ कर उन पर चाबुक से प्रहार किया। फिर क्रोध शांत होने पर उनको छोड़ दिया। तब वे कहीं चले गये। तब राजा को विचार आया कि, अवश्य ही कोई व्यंतर नाग का रूप लेकर इस नाग कन्या के साथ रमण करने आता होगा। राजा ऐसा विचार कर ही रहा था कि इतने में उसका सर्व सैन्य उसके अश्व के पगले पगले चलता हुआ वहाँ आया। तथा स्वामी के दर्शन करके खुश हो गया। तब वह सैन्य से परिवृत हो अपने नगर में चला गया।

(गा. 512 से 530)

वह नागकन्या रोती–रोती अपने पति के पास गई और उसने उसे कहा कि '' मनुष्य लोक में कोई ब्रह्मदत्त नाम का व्याभिचारी राजा है। वह घूमता–घूमता अभी भूत रमण अटवी में आया था। मैं अपनी सखियों के साथ यक्षिणी के पास जा रही थी। वहाँ मार्ग में सरोवर आने पर मैंने उसमें स्नान किया। बाहर निकलने पर उसने मुझे देखा। मुझे देखकर कामपीड़ित हुआ, उसने मुझ से रमण करने की इच्छा से याचना की। परंतु 'मैं अनिच्छा से रोने लगी।' तब 'उसने चाबुक से मुझे मारा।' मैंने तुम्हारा नाम भी लिया, तो भी ऐश्वर्य से उन्मत्त हुआ मुझे बहुत देर तक मारा। तब मुझे मरा हुआ जानकर छोड़ कर चला गया। यह सुनकर नागकुमार अत्यन्त क्रोधित हुआ। पश्चात् रात्रि में अपने वासगृह में गये हुए ब्रह्मदत्त को मारने के लिए वहाँ

आया। उस समय वार्ता के प्रसंग से पट्टरानी ने ब्रह्मदत्त को पूछा कि 'जब आपको अश्व हरण करके ले गया, तब मार्ग में आपने क्या नवीन देखा?' तब ब्रह्मदत्त ने पापकारी नागकन्या और गौनस नाग की कथा कह सुनाई। तथा स्वयं ने उस दुराचारी को शिक्षा दी, यह भी कह सुनाया। यह सर्व हकीकत उस नागकुमार ने अंतर्हित रूप से सुनी और इसमें अपनी प्रिया का ही दोष जानकर उसका क्रोध शीघ्र ही शांत हो गया। उस समय ब्रह्मदत्त शरीर चिंता के लिए वासगृह से बाहर निकला। तब कांति से आकाश को प्रकाशित करता हुआ उस नाग को अंतरीक्ष में स्थित देखा। नागकुमार ने गगन में स्थित रहकर ही कहा कि ''इस पृथ्वी में दुर्विनीत को शिक्षा करने वाले ब्रह्मदत्त राजा की जय हो।'' हे राजन्! 'जिस नागकन्या को आपने मारा था, वह मेरी पत्नी है।' उसने तो मुझे ऐसा कहा था, कि ब्रह्मदत्त ने मुझ पर लुब्ध होकर मुझे मारा। यह सुनकर आपके ऊपर कोपायमान होकर आपको दहन करने की इच्छा से मैं यहाँ आया था। परंतु मैंने अदृश्य रहकर आपके मुख से सर्व चेष्टित सुन लिया है। इससे न्यायवंत ऐसे आप ने व्याभिचारिणी को शिक्षा देकर बहुत उचित किया। उसी के कहे अनुसार मैंने आपका अमंगल सोचा, इसलिए आप मुझे क्षमा करें। ऐसा सुन ब्रह्मदत्त बोला कि हे नागकुमार! इसमें आपका कोई दोष नहीं है। स्त्रियां मायाकपट द्वारा दूसरे को दूषित करके अपना दोष ढक देती है। नागकुमार ने कहा यह सत्य है। स्त्रियाँ वास्तव में मायावी होती हैं। आपके ऐसे न्याय से मैं संतुष्ट हुआ हूँ। अतः ''कहो, मैं आपका क्या काम करूँ?'' ब्रह्मदत्त ने कहा– ''मेरे राज्य में कभी भी व्याभिचार, चोरी या अपमृत्यु न हो, वैसा करो।'' नागकुमार ने कहा इस प्रकार ही हो। परंतु आपकी ऐसी परार्थ याचना सुनकर विशेष संतुष्ट हुआ हूँ। इसलिए अब अपने स्वार्थ के लिए कुछ याचना करो। ब्रह्मदत्त ने विचार करके कहा कि 'मैं सब प्राणियों की भाषा अच्छी तरह समझ सकूँ, ऐसा करो।' नागकुमार ने कहा कि ऐसा वरदान देना मुश्किल है फिर भी मैं तुमको देता हूँ।' परंतु यदि तुम यह बात अन्य को बताओगे तो तुम्हारे मस्तक के सात भाग हो जायेंगे। ऐसा कहकर नागकुमार अपने स्थान पर चला गया।

(गा. 531 से 550)

एक बार ब्रह्मदत्त कुमार अपनी वल्लभा के साथ शृंगारगृह में गये। वहाँ गृहगोधा ने गृहगोध से कहा कि हे प्रिय! राजा के अंगराग में से थोड़ा ला दो। जिससे मेरा दोहद (मनोरथ) पूर्ण हो जावे। तब गृहगोध ने कहा, क्या तुझे मेरे शरीर का काम नहीं है? कि जिससे तू मुझे ऐसा लाने को कह रही है? क्योंकि अंगराग लेने जाऊँगा तो अवश्य ही मेरा मरण हो जायेगा। इस प्रकार उनका वार्तालाप सुनकर राजा हँस पड़ा। तब रानी ने राजा से पूछा कि आप अकस्मात् क्यों हँस पड़े। तब उसने कहा कि कहने से मृत्यु हो जाय, ऐसा राजा को भय होने से राजा ने यूं ही कहा। रानी बोली हे नाथ! इस हँसी का कारण मुझे अवश्य बताना चाहिए। नहीं तो मैं मरण को प्राप्त हो जाऊँगी, क्योंकि मुझ से गुप्त रखने का क्या कारण है? राजा ने कहा, ''वह कारण तुमको न कहने से तुम तो मरोगी नहीं परंतु मेरी अवश्य मृत्यु हो जाएगी।'' राजा के इस वचन पर श्रद्धा न होने से रानी पुनः बोली कि वह कारण मुझे अवश्य कहो, वह कहने से अपन दोनों साथ में मर जायेंगे, तो अपनी दोनों की गति समान होगी, अतः भले ही वैसा हो। इस प्रकार स्त्री के दुराग्रह से राजा ने श्मशान में चिता खड़काई और रानी से कहा, हे रानी! चिता के आगे जाकर मरने को तत्पर होकर यह बात कहूँगा। तब ब्रह्मदत्त चक्री स्नान करके रानी के साथ गजारूढ होकर चिता के पास आए। उस वक्त नगरजन दिलगीर होकर सजल नेत्रों से उनको देखते रहे। उस समय चक्रवर्ती की कुलदेवी एक मेढा की, एक सगर्भा मेढी के रूप की विकुर्वणा करके चक्रवर्ती को प्रतिबोध देने के लिए वहाँ आई। यह राजा सर्व प्राणियों की भाषा जानता है, ऐसा जानकर गर्भवती मेढ़ी ने अपनी भाषा में मेढ़े का कहा कि– हे पति! इस यव के ढेर में से एक यव का पूला मुझे ला दो कि जिसके भक्षण से मेरा दोहद (मनोरथ) पूर्ण हो। मेढ़ा बोला यह जव का ढगला तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के घोड़े के लिए रखा है, यदि यह लेने जाऊँ तो मेरी मृत्यु हो जाए। मेढ़ी बोली– यदि तुम यह जव नहीं लाओगे तो मैं मर जाऊंगी। तब मेढ़े ने कहा कि– यदि तू मर जाएगी तो मैं दूसरी मेढ़ी लाऊँगा। मेढ़ी बोली– देखो यह ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती तो अपनी स्त्री के लिए अपना जीवन गँवा रहा है। इसका ही वास्तव

में स्नेह है तुम तो स्नेह रहित हो। मेढ़ा बोला यह राजा तो अनेक स्त्रियों का पति है, इस उपरांत भी एक स्त्री की वाणी से मरने को तैयार है, पर यह तो वास्तव में इसकी मूर्खता है। मैं कोई इसके जैसा मूर्ख नहीं हूँ, यदि वह राणी मर भी जाएगी, तो भी भवान्तर में इन दोनों का योग होना नहीं है। क्योंकि प्राणियों की गति तो कर्म के आधीन होने से भिन्न भिन्न मार्गवाली है। ऐसी मेढ़ा की वाणी सुनकर चक्रवर्ती विचार में पड़ गए कि अहो! यह मेढ़ा ऐसा कहता है तो मैं एक स्त्री से मोहित होकर किस लिए प्राण त्याग दूँ?

(गा. 551 से 568)

इस प्रकार विचारों से संतुष्ट होकर चक्री ने उस मेढ़े के गले में कनकमाला और पुष्पमाला पहनाई और मै तेरे लिए मरण नहीं पाऊँगा। ऐसा रानी से कहकर स्वयं स्वधाम गये और अखंड चक्रवर्ती पद की लक्ष्मी और राज्य पालन करने लगे। इस प्रकार अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को जन्म से लेकर सोलह वर्ष कम सात सौ वर्ष व्यतीत हुए।

(गा. 569 से 571)

एक बार कोई पूर्व परिचित ब्राह्मण ने आकर कहा कि "हे चक्रवर्ती राजन्! जो भोजन आप करते हो, वही भोजन मुझे दो।" चक्री ने कहा, "हे द्विज! मेरा अन्न अति दुर्जर है। कभी चिरकाल में जर (पच) भी जाए तो भी वहाँ तक महा उन्माद पैदा करता है।" ब्राह्मण बोला अरे राजन! तू अन्नदान में भी कृपण है। अतः तुझे धिक्कार है। ऐसा उस ब्राह्मण के वचन सुनकर उस ब्राह्मण को कुटुम्ब सहित अपना भोजन खिलाया। रात्री को उस ब्राह्मण के शरीर में उस अन्नरूपी बीज में से कामदेव के उन्मादरूपी वृक्ष सैंकड़ों शाखा युक्त प्रकट हुआ। साथ ही अन्यों को भी कामदेव उत्पन्न हुआ। इससे वह ब्राह्मण पुत्र सहित माता, बहन और पुत्रवधु का संबंध भूलकर उनके साथ विषय सुख भोगने लगा। रात्री व्यतीत होने के बाद दिन उगा। तब ब्राह्मण और सर्व गृहजन लज्जा से एक दूसरे को मुख भी बता न सके। तब इस क्रूर राजा ने मुझे (कुछ मादक) पदार्थ खिलाकर हैरान किया है।

ऐसे सोचता हुआ वह ब्राह्मण नगर से बाहर निकला। वहाँ जंगल में परिभ्रमण करते हुए किसी एक ग्वाले को कंकर से पीपल के पत्तों को छेद करते हुए देखा। तब यह पुरुष मेरी धारणा को पूरी करे, वैसा है। ऐसा सोचकर मूल्य की तरह सत्कारादि करके उसे अपने वश में कर लिया। फिर उस ब्राह्मण ने उसे कहा, कि सिर पर श्वेत छत्र और चंवर को धारण करके जो पुरुष राजमार्ग पर गजेन्द्र पर बैठ कर जाता हो, उसकी दोनों आंखों को कंकर फेंक कर फोड़ देना। ब्राह्मण की बात को सुनकर ऐसा करना उसने स्वीकार किया क्योंकि पशुपाल लोग पशु की तरह अविचारी काम को करने वाले होते हैं। फिर वह ग्वाला किसी दीवार की ओट में खड़ा हो गया और दो कंकर फेंक कर हाथी पर बैठ कर जाते ब्रह्मदत्त राजा की दोनों आखें फोड़ दी। ''विधि की आज्ञा वास्तव में दुर्लंघ्य होती है।'' शीघ्र ही पक्षी को जैसे सिंगो पकड़ता है, वैसे ही अंगरक्षकों ने उस ग्वाले को पकड़ लिया। उसे खूब मारा, तब यह दुष्कृत्य कराने वाला कोई ब्राह्मण है यह जाना। यह सुनकर ब्रह्मदत्त राजा बोले कि ब्राह्मण जाति को धिक्कार है! क्योंकि जहाँ वे भोजन करते हैं, वहां ही पात्र को फोड़ डालते हैं। जो अपने अक्षदातार को स्वामी तुल्य मानते हैं, ऐसे श्वान को देना अच्छा, परन्तु कृतघ्न ब्राह्मण को देना उचित नहीं है। वंचक का, निर्दय का, हिंसक का, जानवर का, मांसभक्षकों का और ब्राह्मणों का जो पोषण करते हैं, उसको पहले दंड देना चाहिए। इस प्रकार अनल्प भाषण करते ब्रह्मदत्त राजा ने उस ब्राह्मण को पुत्र, बंधु, मित्र सहित मच्छर के जैसे मुष्ठि से मरवा डाला। तब दृष्टि से अंध होने के साथ क्रोध से हृदय से भी अंध बने ब्रह्मदत्त ने पुरोहित आदि सब ब्राह्मणों का भी घात करवा दिया। उसके बाद उसने मंत्री को आज्ञा दी कि ब्राह्मणों के नेत्रों को विशाल थाल में भरकर मेरे समक्ष लाओ। राजा का ऐसा भयंकर अध्यवसाय जानकर मंत्री ने श्लेषात्मक (गूंदे) फल द्वारा थाल भर कर उसके समक्ष रखा। ब्रह्मदत्त हाथ द्वारा उसका बारम्बार स्पर्श करता हुआ ब्राह्मणों के नेत्रों का यह थाल मैंने अच्छा भरवाया, ऐसा बोलता हुआ अत्यधिक हर्षित होने लगा। उस थाल का स्पर्श करने में जैसे ब्रह्मदत्त को प्रीति होती थी वैसी अपनी स्त्रीरत्न पुष्पवती को

स्पर्श करने में भी नहीं होती थी। जैसे दुर्मति पुरुष मदिरा पात्र को छोड़ता नहीं है, वैसे कभी भी दुर्गति का कारण रूप उस थाल को किंचित मात्र भी छोड़ता नहीं था। ब्राह्मणों के नेत्रों की बुद्धि से गूंदे के फल को बार बार मसलता हुआ ब्रह्मदत्त फलाभिमुख हुआ पापरूपी वृक्ष के दोहद को पूरा करता था। इस प्रकार ब्रह्मदत्त का अनिवार्य और रौद्र अध्यवसाय अत्यन्त वृद्धिगत हुआ। "बड़े लोगों के शुभ या अशुभ दोनों बड़े ही होते है।" इस प्रकार रौद्र ध्यान का अनुबंध वाला और पाप रूपी कीचड़ में वराह जैसे इस राजा के सोलह वर्ष व्यतीत हो गये।

(गा. 572 से 597)

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के अट्ठाईस वर्ष कुमारवय में, छप्पन वर्ष मांडलिक रूप में, सोहल वर्ष भरतक्षेत्र को साधने में छः सौ वर्ष चक्रवर्ती पद में व्यतीत हुए। इस प्रकार जन्म से लेकर सात सौ वर्ष का आयुष्य पूर्ण करके बारम्बार कुरुमती, कुरुमती ऐसा बोलता हुआ ब्रह्मदत्त चक्र वर्ती हिंसानुबंधी परिणाम के फल के योग्य सातवीं नरक भूमि में उत्पन्न हुआ।

(गा. 598 से 600)

सर्ग २
श्री पार्श्वनाथ चरित्र
(पूर्व के नव भव का वर्णन)

सर्वप्रकार की कल्याणरूपी लताओं को आलंबन करने में वृक्षरूप, जगत्पति और सर्व के रक्षक श्री पार्श्वनाथ प्रभु को मेरा नमन हो। सकल विश्व के उपकार के हेतु श्री पार्श्वनाथ प्रभु के अति पवित्र चरित्र का अब कथन वर्णित किया जाएगा।

(गा. 1 से 2)

इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में नवीन स्वर्ग का खंड हो वैसा पोतनपुर नामक नगर है। 'नगर सरिता के पद्मखंड के तुल्य, राजहंसों से सेवित, लक्ष्मी के संकेतगृह सदृश एवं पृथ्वी के मंडन रूप है। वहाँ के धनाढ्य लक्ष्मी में मानो कुबेर के अनुज बंधु हों और औदार्य में कल्पवृक्ष के सहोदर सम ज्ञात होते थे। वे अमरावती तुल्य और अमरावती उनके तुल्य, इस प्रकार परस्पर प्रतिच्छंदभूत होने से उनकी समृद्धि वाणी के विषय से भी अगोचर थी। उस नगर में अरिहंत के चरणकमल में भ्रमर जैसे और समुद्र के समान लक्ष्मी के स्थानरूप अरविंद नामक राजा राज्य करता था। वह जिस प्रकार पराक्रमियों में अद्वितीय था, वैसे ही विवेकीजनों में भी अद्वितीय था। वह जैसे लक्ष्मीवंत में धुरन्धर गिना जाता, वैसे यशस्वियों में भी धुरन्धर माना जाता था। वह जिस प्रकार दीन, अनाथ, और दुःखी लोगों में धन का व्यय करता था, उस प्रकार पुरुषार्थ के साधन में भी अहोरात्रि व्यय करता था। अर्थात् अहोरात्रि वर्गत्रय को साधने में तत्पर था।'

(गा. 3 से 9)

अरविंद नृपति के समान ही जीवाजीवादि तत्व का ज्ञाता परम श्रावक विश्वभूति नामका पुरोहित था। उसके अनुद्धरा नामकी स्त्री थी। उसके उदर से कमठ और मरूभूति नाम के दो ज्येष्ठ और कनिष्ठ पुत्र हुए। कमठ के वरूणा और मरुभूति के वसुंधरा नाम की स्त्रियां थीं। वे दोनों रूप लावण्य से अलंकृत थीं। दोनों ही पुत्र कलाभ्यास करके द्रव्य उपार्जन करने में समर्थ हुए और परस्पर स्नेहाभिभूत होने से उनके माता पिता को भी आनंद के कारणभूत हुए।

(गा. 10 से 13)

किसी समय दो वृषभ रथ का भार ढोएँ वैसे उनको गृहभार सौंपकर विश्वभूति पुरोहित ने गुरु के पास अनशन अंगीकार किया। तत्पश्चात् विश्वभूति समाधियुक्त चित्त से पंच परमेष्ठी मंत्र का स्मरण करता हुआ मृत्यु के पश्चात् सौधर्म देवलोक में देव हुआ। पति के वियोगरूपी ज्वर से पीड़ित उसकी पत्नि अनुद्धरा भी शोक और तप के अंग का शोषण करके नवकार मंत्र का स्मरण करती हुई मृत्यु को प्राप्त हुई। दोनों भाईयों ने माता पिता का मृतकार्य किया। अनुक्रम से हरिश्चंद्र मुनि के बोध से दोनों शोकरहित हुए। पश्चात् कमठ ऐसा राजकार्य में संलग्न हुआ कि हमेशा पिता की मृत्यु के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र ही धुरंधर हो जाता है।

(गा. 14 से 18)

लघु भ्राता मरुभूति तो संसार की असारता को जानकर संन्यासी की भांति भोजन से विमुख होवें, वैसे विषय से विमुख हुआ एवं स्वाध्याय तथा पौषध आदि विधि में तत्पर होकर अहोरात्र पौषधागार में ही रहने लगा। वहाँ गुरु के पास सर्व सावद्य योग की विरति स्वीकार कर, ''मैं उनके साथ कब विहार करूँगा? ऐसी भावना सदैव उसकी रहने लगी।'' एकाकी हुआ कमठ तो स्वच्छंदी, प्रमाद रूपी मदिरा से उन्मादी, सदैव मिथ्यात्व से मोहित और परस्त्री एवं द्यूत में आसक्त हुआ। मरुभूति की स्त्री वसुंधरा नवयौवना होने से जंगम विषवल्ली की भांति सर्वजगत् को मोहाधीन होकर रही। परंतु भावयति हुए ''मरुभूति ने तो जल में मरुस्थल की लता के जैसे स्वप्न में

भी उसका स्पर्श किया नहीं।'' अहर्निश विषयों की स्पृहावाली वह पति का संग न मिलने से अपने यौवन को अरण्य में मालती के पुष्प के समान निष्फल मानने लगी। प्रकृति से ही स्त्रीलंपट कमठ ने विवेक को छोड़कर भ्रातृवधु को बारम्बार देखता हुआ, अनुराग से बुलाने लगा।

(गा. 19 से 26)

एक बार वसुन्धरा को एकान्त में देखकर कमठ ने कहा हे सुभ्रू! कृष्ण पक्ष में चंद्रलेखा की भांति मुझे ज्ञात हुआ है कि, मेरा अनुज भाई मुग्ध और नपुंसक है, ऐसी मेरी धारणा है, यही उसका कारण है। अपने जेठ के अमर्याद वचनों को सुनकर जिसके वस्त्र और केश ढीले पड़ गये हैं, ऐसी वसुंधरा कांपती हुई वहाँ से भागने लगी। तब कमठ उसके पीछे दौड़ा, और उसे पकड़ लिया और कहा, 'अरे मुग्धा! अस्थाने भय क्यों रखती हो? यह तुम्हारा शिथिल हुआ सुंदर केशपाश अच्छी तरह बांध लो और अपने वस्त्र भी व्यवस्थित कर लो। ऐसा कहकर, उसके न चाहने पर भी वह स्वयं उसका केशपाश और वस्त्र ठीक करने लगा। तब वसुंधरा बोली कि 'तुम ज्येष्ठ होकर यह क्या कर रहे हो? तुम तो विश्वभूति (श्वसुर) के सदृश मेरे पूज्य हो।' ऐसा कार्य तो तुम्हारे और मेरे दोनों के कुल के कलंक रूप है। कमठ हँसकर बोला कि, 'हे बाले! मुग्धपने से ऐसा मत बोलो और तुम्हारे यौवन को भोग के बिना निष्फल मत करो।' हे मुग्धाक्षि! मेरे विषयसुख का भोग करो। वह नपुंसक मरुभूति तुम्हारे किस काम का है, कि तथापि तुम उसी को याद करती हो? शास्त्र में कथन है कि यदि पति भाग जाय, मर जाय, दीक्षा ले, नपुंसक हो अथवा बदल जाय तो इन पांच आपत्तियों में स्त्रियों को दूसरा पति कर लेना चाहिए। इस प्रकार कहकर प्रथम से ही भोग की इच्छुक वसुंधरा को उसने आग्रहपूर्वक अपने अंक में ले लिया, उसकी अमर्यादा की लज्जा को छुड़ा दिया। पश्चात् कामातुर कमठ ने उसके साथ चिरकाल तक रमण किया। तब से ही उसके साथ नित्य एकांत में रत्युत्सव होने लगा।

(गा. 27 से 36)

कमठ की स्त्री वरुणा को यह ज्ञात हुआ। इससे करुणाहीन बनकर, अरुणलोचन वाली होकर अर्थात् लालपीली होकर उस स्त्री ने ईर्ष्यावश सर्व वृत्तांत मरुभूति को कहा। मरुभूति ने कहा 'आर्ये! चंद्र में संताप तुल्य मेरे आर्य बन्धु कमठ में ऐसा अनार्य चरित्र कदापि संभव नहीं है। इस प्रकार मरुभूति का निवारण करने पर भी वह तो प्रतिदिन आ आकर यह बात कहने लगी। तब मरुभूति ने एक दिन विचार किया कि ऐसी बाबत में अन्य के कहने से कैसे प्रतित करना? वह स्वयं तो संभोग से विमुख था, तथापि इस विषय में प्रत्यक्ष देखकर ही निश्चय करना।' ऐसा सोचकर उसने कमठ के पास जाकर कहा 'हे आर्य! मैं कुछ कार्य प्रसंग से आज बाहर जा रहा हूँ। ऐसा कह कर मरुभूति नगर के बाहर चला गया और रात्रि में कापडिया का वेष बनाकर,भाषा आवाज बदल कर घर आया। उसने कमठ के पास जाकर कहा कि 'हे भद्र! मैं दूर से चलता आया प्रवासी हूँ, अतः आज रात्रि को विश्राम करने के लिए मुझे आश्रय दो।' कमठ ने निःशंक होकर उसको अपने ही मकान का बहिर्भाग दिया। तब उसने कपट निद्रा से सोकर जाली में से उस अतिकामांध स्त्री पुरुष की दुष्चेष्टा को देखा। आज मरुभूति तो अन्यत्र गया हुआ है, ऐसी धारणा से उस दुर्भति कमठ और वसुन्धरा ने चिरकाल तक कामक्रीड़ा की। जिसे देखना था, उसे मरुभूति ने देख लिया। परन्तु लोकोपवाद के भय से उसने उस वक्त कुछ भी विरुद्ध कार्य किया नहीं। परंतु उसने अरविंद राजा के समक्ष सर्व हकीकत कह सुनाई। तब अनीति जिसे असह्य थी, ऐसे अरविंद राजा ने आरक्षकों को आज्ञा दी कि पुरोहितपुत्र कमठ ने महा दुश्चरित्र किया है, परंतु पुरोहित पुत्र होने से वह अवध्य है, अतः गधे पर बैठा कर, विडंबना के साथ गांव में घुमाकर उसे बाहर निकाल दो। राजा का इस प्रकार आदेश होने पर आरक्षकों ने कमठ के अंगों को विचित्र धातुओं से रंग कर, गधे पर बिठाकर, विरस वाजिंत्र बजाते हुए पूरे नगर में घुमाकर उसे नगर से बाहर निकाल दिया। नगर के लोगो के देखने पर शरम से मुख नीचा करके रहा हुआ कमठ कुछ भी प्रतिकार न कर सकने पर जैसे तैसे वन में आया। पश्चात् अत्यन्त निर्वेद

प्राप्त कर शिव तापस के पास जाकर तपस्वी हो गया। उस वन में ही रह कर उसने अज्ञान तप प्रारंभ कर दिया।

(गा. 37 से 50)

इधर मरुभूति भी पश्चाताप करने लगा कि "मैंने अपने भाई के दुश्चरित्र का कथन राजा से किया। ओ! हो! धिक्कार है मुझे। अतः चलो अब मैं जाकर अपने उस ज्येष्ठ भ्राता से खमाऊँ।" ऐसा विचार आने पर उसने राजा से पूछा, राजा ने उसे मना किया तो भी वह कमठ के पास गया और उसके चरणों में गिरा। कमठ ने अपनी पूर्व में हुई विडंबना का स्मरण कर के अत्यन्त क्रोधित होकर एक शिला उठाकर मरुभूति के मस्तक पर डाली। उसके प्रहार से पीड़ित हुए मरुभूति पर पुनः उसने उस शिला को उठाकर अपनी आत्मा को निर्भय होकर नरक में डाले, वैसे उसने उसके सिर पर डाली। जिसके प्रहार से पीड़ित हुआ मरुभूति आर्त्तध्यान से मृत्यु प्राप्त करके विंध्य पर्वत पर विंध्याचल जैसा यूथपति हाथी हुआ। उस कमठ की पत्नि वरुणा भी कोपांध रूप से मर कर उस यूथनाथ गजेन्द्र की व्हाली (प्रिय) हथिनी हुई। यूथपति नदी गिरि आदि स्थलों में स्वेच्छा से उसके साथ अखंड संभोग सुख भोगता हुआ विशेष प्रकार से क्रीड़ा करने लगा।

(गा. 51 से 58)

इसी समय में पोतनपुर का राजा अरविंद शरदऋतु में अपनी अंतःपुर की स्त्रियों के साथ राजमहल में क्रीड़ा कर रहा था। उस समय क्रीड़ा करते हुए उसने अकाश में इंद्रधनुष और बिजली को धारण करते, सुशोभित नवीन मेघों को देखा। उस समय अहो! यह मेघ कैसा रमणीय है। इस प्रकार राजा कहने लगा। इतने में तो प्रचंड पवन से वह मेघ आकड़े के तूल के समान तितर बितर होकर बिखर गया। यह देख राजा चिंतन करने लगे, अहो! इस संसार में शरीरादि सब मेघ के समान नाशवंत है। तो उसमें विवेकीजन क्या आशा रखे? इस प्रकार तीव्र शुभ ध्यान करते–करते उस राजा के ज्ञानावरणीय और चारित्रमोहनीय कर्म के क्षयोपशम से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। पश्चात् अपने महेन्द्र नामक पुत्र को राज्य पर स्थापन करके

उन्होंने समन्तभद्राचार्य के पास दीक्षा अंगीकार की। अनुक्रम से गीतार्थ होकर गुरु की आज्ञा से एकलविहारी प्रतिमा को धारण करके अरविंद मुनि भवमार्ग का छेदन करने के लिए एकाकी ही पृथ्वी पर विहार करने लगे। शरीर पर भी ममता रहित होकर उस राजा को विचरण करते हुए उज्जड़स्थान पर या बस्ती में, ग्राम में या नगर में, किसी भी स्थान पर कभी भी आसक्ति नहीं हुई।

(गा. 59 से 66)

अन्यदा तपस्या से कृश अंगवाले और विविध अभिग्रह को धारण करने वाले वे राजमुनि सागरदत्त सेठ के सार्थ के साथ अष्टापद गिरि की ओर चल दिये। सागरदत्त ने पूछा कि 'हे महामुनि! आप कहाँ पधारेंगे? मुनि ने कहा 'अष्टापद गिरि पर देववंदन के लिए जाना है। सार्थवाह ने पुनः पूछा कि "उस पर्वत पर देव कौन है? उन देवों के बिंबों को किसने बनाये है? वहां कितने बिंब हैं? और उनको वंदन करने से क्या फल होता है?" उस सार्थवाह को आसन्नभव्य जानकर अरविंद मुनि बोले – हे भद्र! अरिहंत के बिना देव होने में कोई समर्थ नहीं है। जो वीतराग, सर्वज्ञ, इंद्रपूजित और धर्मदेशना से सर्व विश्व के उद्धारक हैं, वे अरिहंत देव कहलाते हैं। श्री ऋषभ देवप्रभु के पुत्र भरत चक्रवर्ती ने श्री ऋषभादिक चौवीस तीर्थंकरों की रत्नमय प्रतिमा भरवा कर अष्टापद पर्वत पर स्थापित किये हैं। उनको वंदन करने का मुख्य फल तो मोक्ष है और नरेन्द्र तथा अहमिंद्रादि पद की प्राप्ति यह उसका आनुषंगिक (अवांतर) फल है। हे भद्रात्मा! जो स्वयं हिंसक, अन्य को दुर्गति दाता और विश्व को व्यामोह कराने वाले हो, उसे देव कैसे कहा जाय? इस प्रकार मुनि के बोध से उस सागरदत्त सार्थवाह ने तत्काल मिथ्यात्व का त्याग करके उनके पास श्रावक के व्रत ग्रहण किये। पश्चात् अरविंदमुनि उसे प्रतिदिन धर्मकथा कहते हुए उसके साथ ही चलने लगे। अनुक्रम से उस सार्थवाह का सार्थ जहाँ मरुभूति हाथी था, उस अटवी में आ पहुँचा।

(गा. 67 से 76)

भोजन का समय होने पर क्षीरसमुद्र तुल्य पानीवाले एक सरोवर के तीर पर सार्थवाह ने पड़ाव डाला। तब कोई काष्ट के लिए, कोई तृण के लिए घूमने लगे एवं कोई रसोई कार्य में जुट गये। इस प्रकार सर्व भिन्न भिन्न कार्यों में व्यस्त हो गये। इसी समय हथिनिओं से घिरा हुआ मरुभूति हाथी वहां आया तथा समुद्र में से मेघ की भांति उस सरोवर के जल का पान करने लगा। तत्पश्चात् अपनी सूंड में जल भरकर उछाल उछाल कर हथिनिओं के साथ चिरकाल तक क्रीड़ा करके वह उस सरोवर की पाल पर आया। वहां दिशाओं का अवलोकन करते हुए उस गजेन्द्र ने समीप में ही उतरा हुआ उस बड़े सार्थ को देखा। तब क्रोध से मुख नेत्र को रक्तवर्णीय करता हुआ, धमधमाता हुआ यमराज के समान उस ओर दौड़ा। सूंड को कुंडलाकार करके, श्रवण को निष्कंप रखकर, गर्जना से दिशाओं को पूरता हुआ वह गजेन्द्र सार्थिकों को मारने लगा। तब जीवनेच्छु सर्व स्त्री–पुरुष अपने अपने ऊंट आदि वाहनों से जीव लेकर भागने लगे। उस समय में वे मुनि अवधिज्ञान द्वारा उस हाथी का बोध समय जानकर उसके सन्मुख कायोत्सर्ग करके स्थिर खड़े हो गए। उनको देखकर क्रोधित होकर वह हाथी उनकी तरफ दौड़ा। परंतु उनके समीप आते ही उनके तप के प्रभाव से उसका क्रोध शांत हो गया। इससे तत्काल संवेग और अनुकंपा उत्पन्न होने से उनके सन्मुख नवीन शिक्षाणीय शिष्य के तुल्य दयापात्र होकर स्थिर खड़ा हो गया।

(गा. 77 से 86)

तब उस पर उपकारक होकर मुनि ने कायोत्सर्ग पारा और शांत, साथ ही गंभीर वाणी से उसे सद्बोध देना प्रारंभ किया– "अरे भद्र! तू तेरे मरुभूति के भव को क्यों याद नहीं करता? और मैं वह अरविंद राजा ही हूँ, वह क्यों पहचानता नहीं है? उस भव में स्वीकृत आर्हत् धर्म को तूने क्यों छोड़ दिया? अब तू सर्व का स्मरण कर और श्वापद जाति के मोह का त्याग कर।" मुनि की इस प्रकार की वाणी को श्रवण करते ही उस गजेन्द्र को भी जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। इससे उसने उन मुनि को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। मुनि श्री ने पुनः कहा कि "हे भद्र! इस नाटक

सम संसार में नट के जैसे प्राणी क्षण–क्षण में रूपांतर को प्राप्त करता है। उस समय तू ब्राह्मणरूप में बुद्धिमान् और तत्वज्ञ श्रावक था, वह कहाँ? अतः अब पुनः पूर्वभव में अंगीकृत श्रावकधर्म को प्राप्त कर। मुनिश्री के वचन उस गजेन्द्र ने सूंढ आदि की संज्ञा से स्वीकार किया।

(गा. 87 से 93)

उस समय हथिनी बनी कमठ की पूर्वभव की स्त्री वरुणा भी वहाँ उपस्थित थी। उसे भी यह हकीकत सुनने से उस गजेन्द्र के समान जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। अरविंद मुनि ने उस हाथी को विशेष रूप से स्थिर करने के लिए गृहीधर्म पुनः सुनाया। इससे वह गजेन्द्र श्रावक होकर मुनि को नमन करके स्वस्थान पर चला गया। उस गजेन्द्र को बोधिलाभ की प्राप्ति जानकर वहां स्थित अनेक लोग आश्चर्यचकित होकर साधु बन गये तथा अनेक लोगों ने श्रावकत्व को प्राप्त किया। उस समय सागरदत्त सार्थवाह जिनधर्म में ऐसा दृढ़ हुआ कि उसे देवता भी चलित करने में समर्थ नहीं हो सकते थे। अरविंद महा मुनि ने उसके साथ अष्टापदगिरि पर जाकर सर्व अर्हन्तबिंबों को वंदना की और वहां से विहार करके अन्यत्र चले गए।

(गा. 94 से 98)

वह गजेन्द्र श्रावक ईर्यासमित्यादिक में तत्पर होकर निरतिचार अष्ठम (तेला) आदि तपाचरण करता हुआ भावयति होकर रहने लगा। सूर्य से तप्त हुआ जल पीता और शुष्क (सूखे) पत्तों का पारणा करता हुआ वह गज हथिनियों के साथ क्रीड़ा करने में विमुख होकर वास्तव में विरक्त बुद्धिवाला हो गया। वह हाथी हमेशा ऐसा ध्यान करता है कि 'जो प्राणी मनुष्य जीवन को प्राप्त करके महाव्रतों का पालन करता है, वही धन्य है।' क्योंकि द्रव्य का फल जैसे पात्र में दान देवे वैसा है, तो मनुष्यत्व का फल चारित्र ग्रहण करे, वैसा है। मुझे धिक्कार है, 'कि उस वक्त मैं द्रव्य के लोभी जैसे उसके फल को हार जाय वैसे दीक्षा लिये बिना मनुष्यत्व को हार गया।' इस प्रकार शुभ भावना भाता हुआ गुरु की आज्ञा में स्थिर मन वाला वह हाथी सुख दुःख में समभाव रखकर काल निर्गमन करने लगा।

(गा. 99 से 103)

इधर कमठ मरुभूति के वध से भी शांत हुआ नहीं। उसका ऐसा दुष्कृत्य देखकर उसके गुरु उसके साथ बोले भी नहीं। अन्य तापसों ने भी उसकी बहुत निंदा की। पश्चात् वह विशेष आर्त्तध्यान से मृत्यु प्राप्त कर कुक्कुट जाति का सर्प हुआ। उस भव में मानो वह पंखवाला यमराज हो, वैसे वह अनेक प्राणियों का संहार करता हुआ भ्रमण करने लगा। एक समय घूमते घूमते उसने सरोवर के ताप से तप्त प्रासुक जल का पान करते हुए उस मरुभूति गजेन्द्र को देखा। इतने में तो वह गजेन्द्र कादव (कीचड़) में फंस गया। तपस्या से उसका शरीर तो कृश हो ही गया था, इससे वह दलदल से बाहर निकल सका नहीं। उस समय वह कुक्कुटनाग वहां जाकर उसके कुंभस्थल पर डंसने लगा। उसका जहर चढ़ने से उस गजेन्द्र ने अपना अवसानकाल समीप जानकर तत्काल समाधिपूर्वक चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान (त्याग) किया। पंच नमस्कार मंत्र के स्मरणपूर्वक धर्मध्यान करता हुआ वह मृत्यु के पश्चात् सहस्रार देवलोक में सतरह सागरोपम की आयुष्य वाला देव बना। वरूणा हथिनी ने भी ऐसा ही दुस्तप तप किया था कि जिससे वह भी मृत्यु प्राप्त करके दूसरे कल्प में श्रेष्ठ देवी हुई। उस ईशान देवलोक में ऐसा कोई देव नहीं था कि जिसका मन रूपलावण्य की संपत्ति से मनोहर ऐसी इस देवी ने हरण न किया हो। परंतु उसने किसी भी देव पर अपना मन किंचित् भी धारण नहीं किया। मात्र उस गजेन्द्र का जीव कि जो आठवें देवलोक में देव हुआ था, उसके ही संगम के ध्यान में वह तत्पर रहने लगी। गजेन्द्र देव ने अवधिज्ञान से उसे अपने पर अनुरक्त जानकर उसे सहस्रार देवलोक में ले गया, एवं अपने अन्तःपुर में शिरोमणि बनाकर रखा। ''पूर्वजन्म का बंधा हुआ स्नेह अतिबलवान् होता है।'' सहस्रार देवलोक के योग्य विषयसुख का भोग करता हुआ वह देव उसके विरह रहित काल निगर्मन करने लगा। लम्बा काल व्यतीत होने पर वह कुक्कुट नाग मरकर सतरह सागरोपम की आयुष्य वाला पांचवीं नरकभूमि में नारकी हुआ। नरकभूमि के योग्य विविध प्रकार की वेदना का अनुभव करता हुआ वह कमठ का जीवन कभी विश्रांति को प्राप्त नहीं हुआ।

(गा. 104 से 117)

प्राग्विदेह के सुकच्छ नाम के विजय में वैताढ्य गिरि पर तिलका नामकी नगरी थी। उस नगर में मानों दूसरा इन्द्र हो वैसा सर्व खेचरों को झुकाने वाला विद्युत्गति नाम का खेचरपति राजा था उसके अपनी रूपसंपति से सम्पूर्ण अंतःपुर में तिलक सदृश कनकतिलका नामक पट्टराणी थी। उसके साथ विषयभोग करते हुए राजा का काफी समय व्यतीत हुआ। किसी समय आठवें देवलोक में जो गजेन्द्र का जीव था, वह वहां से च्यवकर कनकतिलका की कुक्षि में अवतरा। समय पर सर्वलक्षणसंपन्न एकपुत्र रत्न को जन्म दिया। पिता ने किरणवेग नामकरण किया। धायमाताओं से लालन पालन करता हुआ, बड़ा होने लगा। क्रमशः युवावस्था को प्राप्त हुआ। विद्युत्गति ने प्रार्थना पूर्वक, अतिआग्रह से उसे राज्य ग्रहण कराया और स्वयं ने श्रुतसागर गुरु के पास व्रत ग्रहण किया।

(गा. 118 से 125)

सद्बुद्धिमान उस किरण वेग ने निर्लोभता से पिता के राज्य की पालन किया और अनासक्तभाव से विषयसुख का सेवन करने लगा। कुछेक दिनों में उसकी पद्मावती रानी के उदर से तेज के पुंज सम किरणतेज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अनुक्रम से कवचधारी और विद्या साधना करने वाला महामनस्वी पुत्र मानो किरणवेग की प्रतिमूर्ति हो, ऐसा दिखने लगा। ऐसे समय में एक सुरगुरु नाम के मुनि महाराज वहाँ समवसरे। यह समाचार सुनकर किरणवेग ने वहाँ जाकर उनको भावपूर्वक वंदन किया एवं उनकी चरणोपासना की। उनके आग्रह से उनके अनुग्रह के लिए मुनि महाराज ने धर्मदेशना दी– हे राजन्! इस संसार रूप वन में चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) के साधन रूप मनुष्य भव अत्यन्त दुर्लभ है। वह प्राप्त होने पर अविवेकी मूढ प्राणी के जैसे पामर जन अल्पमूल्य से उत्तमरत्न को गंवा देते हैं, वैसे विषय सेवन में उसे गंवा देते हैं। चिरकाल से सेवित वे विषय उसे अवश्य ही नरक में ही गिरा देते हैं। अतः मोक्ष प्रदाता सर्वज्ञभाषित धर्म ही निरंतर सेवन करने योग्य है। ''कर्णामृत सम देशना श्रवण कर'' तत्काल ही पुत्र को राज्यभार देकर, स्वयं ने सुरगुरु मुनि के पास दीक्षा ली। अनुक्रम से

अंगधारी श्रुतस्कंध हो वैसे, वे गीतार्थ हुए। अन्यदा गुर्वाज्ञा से एकल विहारी होकर वे मुनि आकाशगमन शक्ति के द्वारा पुष्करवर द्वीप में पधारे वहाँ शाश्वत अर्हन्तों को नमन करके वैताढ्य गिरि के पास हेमगिरि पर वे प्रतिमा धारण करके रहे। तीव्र तप से तप्त, परीषहों को सहन करते और समता भाव में मग्न रहते वे किरणवेग मुनि वहाँ रहकर काल निर्गमन करने लगे।

(गा. 126 से 138)

किसी समय उस कुक्कुट नाग का जीव पंचम नरक से निकलकर उसी हिमगिरि की गुफा में विशाल सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। यमराज का भुजादंड हो वैसा वह सर्प अनेक प्राणियों का भक्षण करता हुआ उस वन में घूमने लगा। एक बार घूमते घूमते उसने गिरि के कुंज में स्तंभ के समान स्थिर होकर ध्यान करते हुए किरणवेग मुनि को देखा। तत्काल ही पूर्व जन्म के बैर से क्रोधित होकर रक्तवर्णी नेत्र वाला वह सर्प उन मुनि के चंदन के वृक्ष की भांति उनके शरीर से लिपट गया। पश्चात् तीव्र विषमयी भयंकर दाढ़ों से मुनि को डंक मारे एवं डंक वाले सर्व स्थानों में उसने बहुत सारा विष प्रक्षेपन किया । उस समय मुनि चिन्तन करने लगे कि अहो! यह सर्प कर्म क्षय के लिए मेरा पूर्ण उपकारी है। किंचित् मात्र भी उपकारी नहीं है। दीर्घकाल तक जीकर भी मुझे कर्म क्षय ही तो करने हैं, तो वह कार्य अब स्वल्प समय में ही कर लूँ। इस प्रकार विचार करके, आलोचना करके सर्व जगत्जीवों को खमाकर नवकारमंत्र का स्मरण करते हुए धर्मध्यानस्थ उन मुनि ने तत्काल ही अनशन ग्रहण कर लिया। वहाँ से कालकरके बारहवें देवलोक में जंबु–द्रुमावर्त नाम के विमान में बावीस सागरोपम की आयुष्यवाला देव हुआ। वहां विविध समृद्धियों से विलास करता हुआ, देवताओं से सेवित होकर काल निर्गमन करने लगा।

(गा. 139 से 148)

वह महासर्प उस हिमगिरि के शिखर पर घूमता घूमता अन्यदा दावानल में दग्ध हो गया। वहाँ से मरकर २२ सागरोपम की स्थितिवाला तमः प्रभा नरक में नारकी रूप उत्पन्न हुआ। वहां ढाई सौ धनुष की काया वाला उस

नरक की तीव्र वेदना को अनुभव करता हुआ, सुख के एक अंश को भी प्राप्त किये बिना काल व्यतीत करने लगा।

(गा. 149 से 150)

इसी जंबूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में अलंकार तुल्य सुगंध नाम के विजय में शुभंकरा नामकी विशाल नगरी थी। उस नगरी में अवार्य वीर्यवाला व्रजवीर्य नामके राजा का शासन था। उस समय वह इंद्र के तुल्य सर्व राजाओं में श्रेष्ठ था। उसके मूर्तिमान् लक्षमी हो वैसी लक्ष्मीवती नाम की पृथ्वीमंडन रूप अग्रमहिषी थी। किरणवेग का जीव देव संबंधी आयुष्य पूर्ण करके अच्युत देवलोक से च्यवकर सरोवर में हंस समान उस लक्ष्मीदेवी के उदर में अवतरा। पूर्ण समय में पवित्रआकृति धारण करने वाला पृथ्वी में आभूषण स्वरूप पुत्र को जन्म दिया। उसका वज्रनाभ नामांकन किया गया। जगद्रूप कुमुद को चंद्ररूप और धात्रियों से लालित वह कुमार माता–पिता के आनंद में वृद्धि करने लगा। अनुक्रम से यौवनावास्था को प्राप्तकर शस्त्रशास्त्र में विचक्षण हुआ। पिता ने शुभ दिन में उसका राज्यभिषेक किया। तत्पश्चात् वज्रवीर्य राजा ने लक्ष्मीवती रानी के साथ व्रत ग्रहण किया। वज्रनाभ पिता प्रदत्त राज्य का सुचारु रूप से पालन करने लगा। कितनाक काल व्यतीत होने पर वज्रनाभ राजा के प्रतिरूप पराक्रमशाली चक्र के आयुधवाला चक्रवर्ती के समान चक्रायुध नामक पुत्र हुआ। धायमाताओं के हस्त रूप कमल में भ्रमर रूप यह कुमार संसार से भयभीत हुआ पिता की दीक्षा लेने की इच्छा के साथ प्रतिदिन बढ़ने लगा। चंद्र की पूर्णकला सम जब वह कुमार यौवनवय को प्राप्त हुआ, तब पिता ने उससे प्रार्थना की कि, हे कुमार! यह राज्यभार तुमको सौंप कर अभी ही मैं मोक्ष के एक साधन रूप दीक्षा अंगीकार करूंगा। तब चक्रायुध ने कहा कि– 'हे पूज्य पिता श्री! बालचापल्य से यदि कभी कोई अपराध हो गया हो तो क्या आप मुझ पर ऐसा अप्रसाद करेंगे?' मुझे आप क्षमा करें और मेरी तरह इस राज्य का पालन भी आप ही करें। अब तक मेरा पालन पोषण किया, अब मुझे इस प्रकार मत छोड़ना, वज्रनाभ ने कहा हे निष्पाप कुमार! तुम्हारा कोई

भी अपराध नहीं है, परंतु अश्वों की भांति पुत्रों का भी भार उतारने के लिए ही पालन किया जाता है। इसीलिए हे पुत्र! अब तू कवचधारी हुआ है, अतः मेरा दीक्षा का मनोरथ पूर्ण कर, क्योंकि यह मनोरथ तो मुझे जन्म के साथ ही उत्पन्न हुआ है। अब तेरे होने पर भी यदि मैं राज्यभार से आक्रांत हुआ, तो भवसागर में डूब जाऊँगा। तो फिर सुपुत्रों की स्पृहा कौन करेगा? इस प्रकार राजा के कहने पर भी यदि मैं राज्यभार से आक्रांत हुआ, तो भवसागर में डूब जाऊँगा तो फिर सुपुत्रों की स्पृहा कौन करेगा? इस प्रकार राजा की राजाज्ञा होने पर अनिच्छा से उस पुत्र को राज्याधीन किया। "कुलीन पुरुषों को गुरुजन की आज्ञा महाबलवान् है।"

(गा. 151 से 168)

इसी समय क्षेमंकर नामके जिनेश्वर भगवान् उस नगरी के बर्हिउद्यान में समवसरे। उनके आगमन का श्रवण कर वज्रनाभ राजा अत्यन्त आनंदित होकर चिंतन करने लगे कि, "अहो! आज मेरे मनोरथ के अनुकूल अत्यन्त पुण्योदय से अर्हन्त प्रभु का समागम प्राप्त हुआ है।" पश्चात् विपुल समृद्धि के साथ दीक्षा की भावना से वे तत्काल प्रभु के समीप गए। वहाँ प्रभु को वंदन करके उन्होंने प्रभु से भवोदधितारिणी देशना श्रवण की। देशना सम्पन्न होने पर प्रभु के सम्मुख अंजलीबद्ध होकर उन्होंने प्रभु से निवेदन किया कि, 'हे प्रभु! चिरकाल से इच्छित व्रत का दान देकर मुझे अनुगृहीत करें।' उत्तम साधुओं के तुल्य गुरू भी पुण्योदय से प्राप्त होते हैं, आप तो तीर्थंकर प्रभु मुझे गुरू रूप में पुण्य से ही संप्राप्त हुए हैं। अतः में विशेष रूप से पुण्यवान् हूँ। दीक्षा की इच्छा से ही मैंने अभी ही पुत्र का राज्याभिषेक किया है। अतः अब दीक्षा दान के लिए आपका कृपा पात्र बनने को उद्यत हुआ हूँ। इस प्रकार के वज्रनाभ राजा के वचन सुनकर दयालु प्रभु ने स्वयं शीघ्र ही उनको दीक्षा दी। उग्र तपस्या करनेवाले उन राजर्षि ने अल्प समय में श्रुत का अभ्यास किया। पश्चात् गुरु की आज्ञा से एकल विहार प्रतिमा को धारण कर और उग्र तपस्या से जिनका तन कृशता को प्राप्त हो गया है, ऐसे वे महर्षि अनेक नगरों में विहार करने लगे। अखंड और दृढ़ ऐसे मूलोत्तर गुणों के धारक वे मुनि मानों दो दृढ़ पंख वाले हों,

ऐसे अनुक्रम से आकाशगामिनी लब्धि धारक हुए। एक वक्त आकाशमार्ग से उड़कर तप के तेज से मानों दूसरा सूर्य हो, ऐसे वे मुनि सुकच्छ नामक विजय में पधारे।

(गा. 169 से 178)

वह सर्प जो छठी नरक में उत्पन्न हुआ था, वह वहाँ से निकलकर सुकच्छ विजय में आए ज्वलनगिरि की विशाल अटवी में कुरंगक नामका भील हुआ। यौवनवय होने पर वह भील प्रतिदिन धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाकर आजीविका के लिए अनेक प्राणियों का संहार करता हुआ उस गिरि की गुफा में भ्रमण करने लगा। वे वज्रनाभ मुनि भी विचरण करते हुए यमराज के सैनिकों जैसे अनेक शिकारी प्राणियों के स्थान रूप उस अटवी में आ चढ़े। चमरू आदि क्रूर प्राणियों से भय रहित होकर वे मुनि ज्वलनगिरि पर आए। उसी समय सूर्यास्त हो गया। उस समय ज्वलनगिरि की कंदरा में ही मानो उसका नवीन शिखर हो, वैसे काउसग्ग ध्यान में स्थित हो गए। उस समय राक्षसों के कुल की भांति सर्व दिशाओं में अंधकार व्याप्त हो गया। यमराज के मानो क्रीडापक्षी हो वैसे। उलूक पक्षी धुत्कार करने लगे। राक्षसों के गायक नाहर प्राणी उग्र आक्रंद करने लगे। डंके से वाजिंत्र के समान वाद्य पूँछ से पृथ्वी पर प्रहार करते हुए इधर उधर घूमने लगे। विचित्र आकृति युक्त शाकिनी, योगिनी और व्यंतरियाँ किलकिल शब्द करती हुई वहाँ एकत्रित हो गई। स्वभाव से ही अति भयंकर काल और क्षेत्र में भी वे वज्रनाभ भगवान उद्यान में निर्भय और निष्कंप होकर स्थित रहे। इस प्रकार ध्यानस्थ हुए मुनि ने रात्रि निर्गमन की। प्रातःकाल में उनके तप तेज की ज्योति स्वरूप सूर्यज्योति प्रकाशित हुई। अर्थात् सूर्यकिरण के स्पर्शमात्र से ही जीव जंतु रहित भूमि पर युगमात्र दृष्टि प्रक्षेप करते हुए मुनि ने अन्यत्र विहार करने के लिए वहाँ से प्रस्थान किया।

(गा. 179 से 189)

इसी समय वाद्य के समान क्रूर और वाद्य के चर्म को ही धारण करने वाला वह कुरंगक भील हाथ में धनुष और तीर–कमान लेकर शिकार करने

के लिए निकला। उसने दूर से ही वज्रनाभ मुनि को आते हुए देखा। तब भिक्षु का अपशकुन हुआ ऐसे कुत्सित विचार उसे क्रोध उत्पन्न हुआ। पश्चात् पूर्व जन्म के वैर से अति क्रोधित होता हुआ उस कुरंगक ने दूर से ही धनुष खींच कर हरिण की तरह उस महर्षि पर बाण से प्रहार किया। उसके प्रहार से पीड़ित होने पर भी आर्त्तध्यान से रहित हुए मुनि नमोऽर्हभ्यः' बोलते हुए प्रतिलेखना करके पृथ्वी पर बैठ गये। पश्चात् सिद्ध को नमस्कार करके, सम्यक् आलोचना करके उन मुनि ने अनशन व्रत ग्रहण किया। पश्चात् विशेष प्रकार से ममता रहित होकर सर्व जीवों से क्षमापना की। इस प्रकार धर्मध्यान में परायण होकर मृत्यु के पश्चात् वे मुनि मध्य ग्रैवेयक में ललितांग नाम के परमर्द्धिक देव हुए। कुरंगक भील ने एक ही प्रहार से उनकी मृत्यु देखकर, पूर्वबद्ध बैर के कारण अपने बल संबंधी मद को वहन करता हुआ अत्यन्त हर्षित हुआ। जन्म से मृत्यु पर्यन्त मृगया द्वारा आजीविका चलाने वाला वह कुरंगक भील मर कर सातवीं नरक में रौरव नरकावास में उत्पन्न हुआ।

(गा. 190 से 197)

इसी जंबूद्वीप के पूर्वविदेह में सुरनगर जैसा पुराणपुर नामका एक विशाल नगर है। उसमें शतकादि राजाओं ने पुष्पमाला के समान शासन को अंगीकार किया है, वैसा कुलिशबाहु नामका इंद्र के समान राजा था। उनके रूप से सुदर्शना (श्रेष्ठ दर्शनवाली) और परम प्रेमपात्र सुदर्शन नामकी मुख्य पटरानी थी। शरीरधारी पृथ्वी के समान उसे रानी के साथ क्रीडा करता हुआ वह राजा द्वितीय पुरुषार्थ को बोध किये बिना विषयसुख को भोगता था। इधर बहुत काल व्यतीत को जाने के पश्चात् वज्रनाभ का जीव देव संबंधी आयुष्य को पूर्ण करके ग्रैवेयक से च्यवकर उस सुदर्शना देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उस समय रात्रि के प्रातःभाग में सुखपूर्वक शयन करती हुई देवी ने चक्रवर्ती के जन्म को सूचित कराने वाले चौदह स्वप्नों का अवलोकन किया। प्रातःकाल में राजा को स्वप्न की बात कहने पर उन्होंने उन स्वप्नों की व्याख्या कह सुनाई। जिन्हें श्रवण करके देवी अत्यन्त हर्षित

हुई। समय पर देवी ने सूर्य के पूर्व दिशा में उदित होने के साथ ही प्रसव किया, वैसे ही उसने पुत्र रत्न को जन्म दिया। राजा ने बड़े समारोह से उसका जन्मोत्सव किया एवं विशाल उत्सव करके उसका स्वर्णबाहु अभिधान किया। भातृजनों एवं राजाओं के एक के उत्संग से दूसरे उत्संग में जाकर वह कुमार राहगीर जैसे नदी का उल्लंघन करते हैं, वैसे शनैः शनैः बाल्यवय का उल्लंघन कर गया। पूर्वजन्म के संस्कार से उसने सर्व कलाओं का सुखपूर्वक संपादन किया और कामदेव के सदनरूप यौवनवय को प्राप्त किया। वह सुवर्णबाहु कुमार रूप से और पराक्रम से जगत् में असामान्य हुआ। साथ ही विनयलक्ष्मी से पराक्रम से अधिष्य (कोई भी धारण न कर सके) हुआ। कुलिशबाहु राजा ने पुत्र को योग्य जानकर उसका राज्याभिषेक किया एवं स्वयं ने भववैराग्य से दीक्षा अंगीकार की। सौधर्म देवलोक के इंद्र के तुल्य पृथ्वी में अखंड आज्ञा का प्रवर्तन करके अनके प्रकार के भोगों का भोग करके वह कुमार सुखपूर्वक अमृतरस में मग्न रहने लगा।

(गा. 198 से 210)

एक बार हजारों हाथियों से परिवृत वह कुमार अश्वों में आठवां हो वैसे एक अपूर्व अश्व पर आरूढ होकर क्रीड़ार्थ निकला। अश्व का वेग ज्ञात करने हेतु राजा ने उस पर चाबुक से प्रहार किया। तब तत्काल वह पवनवेगी मृग की भांति अतिवेग से दौड़ा। उसे खड़ा रखने के लिए जैसे जैसे राजा ने उसकी लगाम खींची वैसे वैसे वह विपरीत शिक्षित अश्व अधिक से अधिक दौड़ने लगा। माननीय "गुरुजनों को दुर्जन व्यक्ति त्याग देता है, वैसे मूर्तिमान् पवन जैसे उस अश्व ने क्षणभर में तो सर्व सैनिकों को पीछे छोड़ दिया।" अतिवेग के कारण वह अश्व भूमि पर चल रहा है या आकाश में चल रहा है, यह कोई भी जान नहीं सकता था। एवं राजा भी मानों उसके ऊपर उद्गत हुआ हो, वैसे लोग तर्क करने लगे। क्षणभर में तो उस अश्व सहित वह राजा विचित्र वृक्षों से संकीर्ण और विविध प्राणियों से आकुलित ऐसे दूर के वन में आ पहुँचा। वहाँ उसने आशय के समान एक निर्मल सरोवर राजा को दृष्टिगत हुआ। उसे देखते ही तृषातुर और श्वासपूर्ण हुआ वह

अश्व स्वयं ही खड़ा रह गया। तब अश्व के ऊपर से पर्याण उतार कर उसने अश्व को नहलाया एवं पानी पिलाया।

(गा. 211 से 220)

फिर स्वयं ने भी स्नान करके जलपान किया। सरोवर से निकलकर क्षणभर तट पर आकर विश्राम करके राजा आगे बढ़ा। वहाँ उसे एक रमणीय तपोवन दृष्टगत हुआ। उसमें तापसों के छोटे छोटे बालक उत्संग में मृगशावकों को लेकर क्यारियों में रहे वृक्षों के मूल को जल से सींच रहे थे। यह दृश्य देख राजा अत्यन्त खुश हो गया। उस तपोवन में प्रवेश करते समय चिन्तनशील हुआ उस राजा का मानो कोई नवीन कल्याण सूचित करता हो वैसा दाहिना नेत्र फड़कने लगा। वहाँ हर्षयुक्त चित्त से आगे बढ़ते हुए दक्षिण दिशा की ओर सखियों के साथ जल के कलशों से वृक्षों का सिंचन करते हुए एक मुनिकल्याण दिखाई दी। उसे देखकर राजा ने विचार किया कि, अहो! ऐसा रूप तो अप्सराओं में, नागपत्नियों या मनुष्य की स्त्रियों में भी दिखाई नहीं देता। यह बाला तो तीन लोक से भी अधिक रूपवन्त है। ऐसा विचार करके वह वृक्ष की ओट में रहकर बारम्बार उस बाला को देखने लगा। इतने में तो वह बाला सखियों सहित माधवीमण्डप में आकर फिर अपने पहने हुए वल्कल वस्त्र के दृढ़ बंधन शिथिल करके, बकुल पुष्प जैसे सुगंधित मुखवाली वह बाला बोरसली के वृक्ष का सिंचन करने लगी। राजा पुनः चिंतन करने लगा कि "कमल जैसे नेत्रवाली रमणी का ऐसा सुंदर रूप कहाँ?" और "एक साधारण स्त्री के योग्य ऐसा काम कहाँ?" यह तापसकन्या तो नहीं होनी चाहिए, क्योंकि मेरा मन उस पर अनुरक्त हो गया है। अतः यह अवश्य ही कोई राजपुत्री होनी चाहिए, और कहीं से यहाँ आ गई होगी? राजा ऐसा विचार कर ही रहा था कि इतने में उस पद्मावती के मुख से पास उसके श्वास की सुगंध से आकर्षित होकर एक भँवरा वहाँ आया और उसके मुख के आसपास घूमने लगा। तब वह बाला भय से करपल्लव को काँपते हुए उसे उड़ाने लगी। परंतु जब भंवरे ने उसे छोड़ा नहीं, तब वह सखी को उद्देश्य करके कहने लगी कि इस भ्रमर

राक्षस से मेरी रक्षा करो, रक्षा करो। सखी ने कहा बहन! सुवर्ण बाहु के अतिरिक्त तेरी रक्षा करने में कौन समर्थ है? अतः रक्षा का प्रयोजन हो तो उस राजा का स्मरण कर पद्मावती की सखी के इस प्रकार के वचन सुनकर 'जब तक वज्रबाहु का पुत्र पृथ्वी पर राज्य करता है, तब तक कौन उपद्रव कर सकता है?' ऐसा बोलता हुआ प्रसंग को जानने वाला स्वर्णबाहु तत्काल प्रगट हुआ। उसे आकस्मात् प्रगट हुआ देखकर दोनों ही बालाएं भयभीत हो गई, इससे वो दोनों उचित प्रतिपत्ति कर नहीं सकी और न ही कुछ बोल सकी। अतः ये दोनों डर गई हैं ऐसा जानकर राजा पुनः बोला कि, "हे भद्रे! यहाँ तुम्हारा तप निर्विघ्न हो रहा है?" उनके ऐसे प्रश्न को सुनकर सखी ने धीरज रखकर कहा कि "जब तक वज्रबाहु कुमार राज्य करता है, तब तक तापसों के तप में विघ्न करने में कौन समर्थ है?" इस सैन्य के क्षोभ से आश्रम की रक्षा हे राजन्! यह बाला तो मात्र कमल की भ्रांति से ऐसा महसूस कर रही है जैसे किसी भ्रमर ने उसके मुख पर डंक मारा, इससे कायर होकर, रक्षा करो! रक्षा करो! ऐसा बोली थी। इस प्रकार कहकर उसने एक वृक्ष के नीचे आसन देकर राजा को बिठाया।

(गा. 221 से 235)

पश्चात् उस सखी ने स्वच्छ बुद्धि द्वारा अमृत तुल्य वाणी से पूछा कि, आप निर्दोष मूर्ति से कोई असाधारण मनुष्य लग रहे हो, तथापि कहो कि आप कौन हैं? कोई देव हो? या विद्याधर हो? राजा ने स्वयं अपनी पहचान को देना अयोग्य जानकर कहा कि, 'मैं स्वर्णबाहू राजा का आदमी हूँ और उनकी आज्ञा से इन श्रमणवासियों के विघ्नों का निवारण करने के लिए यहाँ आया हूँ, क्योंकि ऐसे कार्य में राजा का महान् प्रयत्न होता है।' राजा के ऐसे उत्तर से यह स्वयं ही वह राजा है, ऐसा मन में विचार करती हुई सखी को राजा ने कहा कि यह बाला ऐसा अशक्य काम करके अपनी देह को किसलिए कष्ट में डाल रही है? सखी ने विश्वास डालते हुए कहा कि रत्नपुर के राजा खेचरेन्द्र की यह पद्मा नाम की कुमारी है, इसकी माता का नाम रत्नावली है। इसका जन्म होते ही इसके पिता की मृत्यु हो गई। तब राज्य की प्राप्ति

के लिए उसके पुत्र आपस में झगड़ने लगे। इससे उनके राज्य में बड़ा तूफान होने लगा। उस समय रत्नावली रानी इस बाला को लेकर अपने भाई और तापसों के कुलपति गालव मुनि के आश्रम में भागकर आ गयीं।

(गा. 236 से 243)

एक बार कोई दिव्य ज्ञानी मुनि यहाँ पधारे। इससे गालव तापस ने पूछा कि 'इस पद्मा कुमारी का पति कौन होगा?' तब उन महामुनि ने फरमाया कि 'वज्रबाहु राजा का चक्रवर्ती पुत्र अश्व द्वारा हरण किये जाने पर यहाँ आवेंगे, और इस बाला को ब्याहेंगे। यह सुनकर राजा ने मन में विचार किया कि 'वक्राश्व जो मेरा अकस्मात् ही हरण करके यहाँ ले आया, वह विधाता का इस रमणी के साथ मिलाप कराने का ही उपाय होगा।' इस प्रकार विचार करके राजा ने कहा कि, 'हे भद्रे! वे कुलपति गालव मुनि अभी कहाँ हैं? उनके दर्शन करने से मुझे विशेष आनंद होगा।' उसने कहा कि, 'पूर्वोक्त मुनि ने आज ही यहाँ से विहार किया है, उन मुनि को पहुँचाने हेतु गालव मुनि वहाँ गये हैं। वे उनको नमन करके अभी यहाँ पधारेंगे।' इतने में 'हे नंदा! पद्मा को यहाँ ले आ, कुलपति के आने का समय हो गया है।' ऐसे एक वृद्ध तापसी ने कहा। उसी समय घोड़ों की टापों की आवाज से अपने सैन्य को आया जानकर राजा ने कहा कि 'तुम जाओ', 'मैं भी इस सैन्य के क्षोभ से आश्रय की रक्षा करूँ।' पश्चात् नंदा सखी सुवर्णबाहु राजा को वक्र ग्रीवा से अवलोकन करती हुई पद्मा को वहाँ से जबरन ले गई।

(गा. 244 से 251)

कुलपति जब आये तब नंदा ने उनको और रत्नावली को हर्ष से स्वर्णबाहु राजा का वृत्तांत कह सुनाया। यह सुनकर गालव ऋषि ने कहा कि 'उन मुनि का ज्ञान वास्तव में प्रतीतिजन्य सिद्ध हुआ। महात्मा जैन मुनि कभी भी मृषा भाषण करते नहीं है। हे बालिकाओं! 'ये राजा अतिथि होने से पूज्य हैं, और राजा तो वर्णाश्रम के गुरु कहे जाते हैं एवं अपनी पद्मा के तो भावी पति हैं', अतः चलो हम पद्मा को साथ लेकर उनके पास चलें। पश्चात् कुलपति गालव ऋषि, रत्नावली, पद्मा और नंदा को साथ लेकर राजा

के पास गये। राजा ने खड़े होकर उनका सत्कार किया और कहा कि 'मैं आपके दर्शन हेतु उत्कंठित था, एवं मुझे आपके पास आना ही चाहिए। उस उपरांत भी आप यहां कैसे पधारे?' गालव ने कहा 'अन्य भी कोई जो हमारे आश्रय में आता है, तो वह अतिथि होने से पूज्य है, उस पर भी आप तो विशेष पूज्य हैं। यह पद्मा जो मेरी भागिनेय (भाणजी) है, उसे ज्ञानी महात्मा ने तुम्हारी पत्नि होना बताया है। उसके पुण्ययोग से आप यहाँ आ पहुँचे हों, अब इस बाला का आप पाणिग्रहण करो। ऐसे गालव ऋषि के वचन से दूसरी पद्मा (लक्ष्मी) हो, ऐसी पद्मा के साथ सुवर्णबाहु ने गंधर्व विधि से विवाह किया। रत्नावली ने हर्षित चित्तवाले सुवर्णबाहु को कहा कि हे राजन्! आप इस पद्मा को हृदयकमल में सूर्य के समान बने रहे।

(गा. 252 से 260)

रत्नावली के पद्मोत्तर नाम का सौतेला पुत्र था। वह खेचरपति कुछ उपहार लेकर विमान से आकाश को आच्छादित करता हुआ, उस प्रदेश में आया। रत्नावली ने उसे सर्व हकीकत ज्ञात कराई, तब उसने सुवर्णबाहु को नमस्कार करके अंजलीबद्ध होकर कहने लगा, हे देव! आपका यह वृत्तान्त ज्ञात होने पर आपकी सेवा के लिए ही मैं यहाँ आया हूँ। इसलिए हे राजन्! आप मुझे आज्ञा दें। हे प्रतापी! वैताढ्य गिरि पर मेरा नगर है। वहाँ आप पधारें। वहाँ पधारने से विद्याधरों की सर्व ऐश्वर्य लक्ष्मी आपको प्राप्त होगी। उसके अति आग्रह से राजा ने उसका वचन स्वीकार किया। इसी समय पद्मा ने अपनी माता को नमन करके गद्गद् वाणी से कहा, हे माता! अब तो मुझे स्वामी के साथ जाना पड़ेगा। क्योंकि अब इनके सिवा मेरा दूसरा कोई स्थान है भी नहीं। अतः कहो अब अपना पुनः मिलना कब होगा? ये बंधु समान उद्यानवृक्षों को मुझे छोड़ना पड़ेगा। यह प्यारा मयूर मेघ वर्षा के समय षड़ज स्वर बोलकर और आम्रवृक्षों को, बछड़े को गायों के सदृश पयपान कौन करायेगा? रत्नावली बोली ' वत्से! तू एक चक्रवर्ती राजा की पत्नी बनी है, तो तू अब धिक्कार भरे इन वनवासियों के वृत्तांत को भूल जा।' अब तो तुझे पृथ्वी के इंद्र तुल्य चक्रवर्ती राजा का अनुसरण करना, तू इनकी पट्टरानी होगी। इस हर्ष के समय तू शोक को छोड़ दे।

इस प्रकार कहकर उसके मस्तक पर चुम्बक करके, भरपूर आलिंगन करके उसे उत्संग में बिठाकर रत्नावली उसे शिक्षा देने लगी कि "हे वत्से! अब तो पतिगृह में जा रही है, अतः वहां हमेशा प्रियंवदा होना। पति के भोजन करने के पश्चात् भोजन करना और उनके शयन करने के पश्चात् सोना। चक्रवर्ती की अन्य स्त्रियाँ, जो कि तेरी सखियाँ (सौतन) होगी, वे यदि कभी सौतन भाव बतावें तो भी तू उनके अनुकूल होकर रहना। 'क्योंकि महत्वपूर्ण लोगों की ऐसी ही योग्यता होती है।' हे वत्से सदैव मुख के आगे वस्त्र रखकर, नीचे दृष्टि रखकर सूर्य मुखी (पोयणी) के समान असूर्यपश्मा (सूर्य को भी नहीं देख सके) होना। हे पुत्री! सासू के चरणकमल की सेवा हँसते हुए करना। कभी भी मैं चक्रवर्ती की पत्नी हूँ, ऐसा अभिमान करना नहीं। तेरी सौतन की संतान को अपना ही पुत्र मानना। इस प्रकार अपनी माता के अमृत जैसे शिक्षावचनों का कर्णांजली द्वारा पान करके, नमन करके उनसे इजाजत ली। वह अपने पति की ही अनुचरी बनी। पद्मोत्तर विद्याधर ने अपनी माता रत्नाावली को प्रणाम करके चक्रवर्ती को कहा कि हे स्वामिन्! इस मेरे विमान को ही अलंकृत करो। पश्चात् गालव मुनि की इजाजत लेकर सुवर्णबाहु राजा अपने परिवार सहित पद्मोत्तर के विमान में बैठे। पद्मोत्तर अपनी बहन पद्मा सहित सुवर्णबाहु को वैताढ्यगिरि पर अपने रत्नपुर नगर में ले गया। वहाँ देवता के विमानतुल्य एक रत्नजड़ित महल जो कि अनेक खेचरों से परिवृत था, वह सुवर्णबाहु को सौंपा एवं स्वयं हमेशा दासी की भांति उसके पास रहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य करने लगा। साथ ही स्नान, भोजनादि द्वारा उनकी योग्य–सेवा भक्ति करने लगा। वहाँ रहकर सुवर्णबाहु ने अपनी अत्यन्त पुण्यसंपत्ति से दोनों श्रेणी में स्थित सर्व विद्याधरों के ऐश्वर्य को प्राप्त किया एवं अनेक विद्याधरों की कन्याओं को परणा। विद्याधरों ने सर्वविद्याधरों के ऐश्वर्य पर खेचरियों को साथ में लेकर सुवर्णबाहु परिवार सहित अपने नगर में गये।

(गा. 261 से 286)

सुवर्णबाहु राजा को पृथ्वी पर राज्य करते समय अनुक्रम से चौदह रत्नों की प्राप्ति हुई। देवताओं से सेवित उन सुवर्णबाहु चक्रवर्ती ने चक्ररत्न के मार्ग

का अनुसरण करके षट्खंड पृथ्वीमण्डल को लीलामात्र में साध लिया। पश्चात् सूर्य की भांति अपने तेज से सर्व के तेज को निस्तेज करते हुए सुवर्णबाहु चक्रवर्ती विचित्र क्रीड़ा से क्रीड़ा करते हुए आनंद में रहने लगे।

(गा. 287 से 289)

एक बार चक्रवर्ती महल के गवाक्ष में बैठे हुए थे कि उस समय आकाश में से देवताओं के वृंद को उतरते हुए एवं नीचे जाते हुए देखा। यह देखकर वे विस्मित हुए। उसी समय उनको श्रवणगोचर हुआ कि जगन्नाथ तीर्थंकर भगवान् समवसरे हैं। यह सुनते ही श्रद्धाबद्ध मनस्वी चक्रवर्ती भी उनको वंदन करने गये। वहाँ जाकर प्रभु को वंदन करके, योग्य स्थान पर बैठकर उनके पास अकस्मात् अमृतलाभ तुल्य देशना श्रवण की। अनेक भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देकर प्रभु ने वहाँ से अन्यत्र विहार किया। सुवर्णबाहु चक्रवर्ती भी अपने निवास स्थान पर आये।

(गा. 290 से 293)

तीर्थंकर प्रभु की देशना श्रवण करने आए हुए देवताओं को बारम्बार स्मरण करते हुए 'मैंने कहीं ऐसे देवताओं को देखा है।' ऐसा ऊहापोह करते हुए उनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। तब वे चिन्तन करने लगे, कि 'जब मैं अपने पूर्वभव को देखता हूँ, तब प्रत्येक मनुष्यभव में प्रयत्न करने पर भी अभी तक मेरे भव का अंत आया नहीं।' जो देवेन्द्रपद को प्राप्त कर लेता है, वह प्राणी मनुष्यपने में भी पुनः तृप्ति को प्राप्त करता है। अहो! 'कर्म से जिनका स्वभाव ढक गया है, ऐसी आत्मा को यह कैसा मोह हुआ है?' जिस प्रकार मार्ग भ्रष्ट मुसाफिर भ्रांति से अन्य मार्ग पर चला जाता है, वैसे मोक्षमार्ग को भूला प्राणी भी स्वर्ग, मर्त्य, तिर्यंच एवं नरकगति में गमनागमन करता रहता है। अब तो मैं मोक्ष मार्ग के लिए ही विशेष प्रयत्न करूँगा। सामान्य प्रयोजन में भी क्षुब्ध होना नहीं है, वही कल्याण का मूल है। इस प्रकार निश्चय करके सुवर्णबाहु चक्रवर्ती ने अपने पुत्र को राज्याधीन किया। उसी समय जगन्नाथ चक्रवर्ती भी विचरण करते हुए वहाँ पधारे। सुवर्णबाहु ने तत्काल ही प्रभु के पास जाकर दीक्षा ली। अनुक्रम से उग्र

तपस्या करके गीतार्थ हुए। पश्चात् अर्हन्त भक्ति आदि स्थानकों की आराधना करके प्राज्ञ सुवर्णबाहू महामुनि ने तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया।

(गा. 294 से 301)

एक बार विहार करते हुए वे मुनि क्षीरगिरि के समीपस्थ विविध प्रकार के हिंसक प्राणियों से भयंकर ऐसी क्षीरवर्णा अटवी में आए। वहाँ सूर्य से अधिक तेजस्वी वे सुवर्णबाहु मुनि सूर्य के सम्मुख दृष्टि स्थिर करके कायोत्सर्ग करके आतापना लेने लगे। उस समय वह कुरंगक भील नरक में से निकलकर उसी पर्वत में सिंह हुआ था। वह घूमता घूमता देवयोग से वहाँ आ चढ़ा। उसे पहले दिन भी भक्ष्य मिला नहीं होने से वह क्षुधातुर था। इतने में यमराज जैसा उस सिंह ने दूर से ही इन महर्षि को देखा। पूर्व जन्म के वैर से मुख को फाड़ता हुआ और पूंछ की फटकार से पृथ्वी को फोड़ता हो, वैसा वह क्षूद्र पंचानन मुनि की ओर बढ़ने लगा। कान और केशराशि को ऊँचा करके, गर्जना से गिरिगुहा को आपूरित करता हुआ लंबी छलांग लगाकर उसने मुनि पर झपाटा मारा। सिंह के उछल कर आने से पहले, देह पर भी निस्पृह उन मुनि ने तत्काल ही चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान कर लिया। आलोचना करके सर्वप्राणियों को खमाया एवं सिंह पर किंचित् भी विकार लाए बिना धर्मध्यान में स्थित हो गये। केशरीसिंह से विदीर्ण हुए वे मुनि मृत्युपरान्त दसवें देवलोक में महाप्रभ नामक विमान में बीस सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए। वह सिंह भी मृत्यु के पश्चात् दस सागरोपम की स्थिति वाली चौथी नरक में गया। पश्चात् तिर्यंच बना एवं विविध योनी में भटका।

(गा. 302 से 310)

सर्ग – 3

श्री पार्श्वनाथ प्रभु का जन्म, कौमरावस्था दीक्षाग्रहण एवं केवलज्ञान की उत्पत्ति

पूर्वोक्त सिंह का जीव असंख्यभवों में दुःख का अनुभव करता हुआ किसी समय किसी गांव में एक निर्धन ब्राह्मण के घर पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। उसका जन्म होते ही उसे माता पिता एवं भ्राता आदि सर्व मृत्यु को प्राप्त हो गये। लोगों ने कृपा करके उसे जिलाया और उसका कमठ नामकरण किया। बाल्ववय का उल्लंघन करके वह यौवनवय को प्राप्त हुआ। परंतु निरंतर दुःखी स्थिति को भोगता हुआ और लोगों से हैरान होता हुआ वह मुश्किल से भोजन पा सकता था। एक बार गांव के धनाढ्य लोगों को रत्नालंकार धारण करते हुए देखकर उसे तत्काल ही वैराग्य हो गया। वह सोचने लगा कि ''हजारों के पेट का पोषण करने वाले और विविध आभूषण धारण करने वाले ये गृहस्थ देवता जैसे लगते हैं'', मुझे लगता है कि 'पूर्व भव के तप का ही यह फल है।' मैं मात्र भोजन की अभिलाषा करने में ही इतना दुःखी होता हूँ, तो मैंने पूर्व में कोई भी तप किया हुआ नहीं लगता है। अतः इस भव में मैं अवश्य ही तपाचरण करूँ। ऐसा विचार करके उस कमठ ने तापसव्रत ग्रहण किया एवं कंदमूलादिक का भोजन करता हुआ पंचाग्नि तप करने लगा।

(गा. 1 से 7)

इसी जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में आभूषण तुल्य गंगा नदी के पास वाराणसी नामक नगरी है। उस नगर में चैत्यों के ऊपर गंगा के तरंग जैसी

ध्वजाएं और पद्मकोश के समान सुवर्ण के कुंभ शोभायमान हैं। उस नगरी के किले के ऊपर अर्धरात्रि को जब पूर्णिमा का चंद्र आता है, तब उसे देखने वाले को रूपा(चांदी) के कांगरों का भ्रम होता है। इंद्रनीलमणि से बद्ध वहाँ के वासगृहों की भूमि में अतिथियों की स्त्रियाँ जल समझकर हाथ डालती हैं, तो उनका उपहास्य होता है। उस नगर के चैत्यों में सुगंधित धूप का धूम्र इतना अधिक प्रसरता है कि मानो दृष्टिदोष (नजर) न लगने हेतु नीलवस्त्र बांधा हो ऐसा महसूस होता है। संगीत में होने वाले मुरज शब्दों से उस नगर में मेघ की ध्वनि की शंका से मयूर सदैव वर्षाऋतु की संभावना से केकारव करते रहते हैं।

(गा. 8 से 13)

ऐसी सुशोभित वाराणसी नगरी में इक्ष्वाकु वंश में अश्वसेन नामक राजा हुए। उन्होंने अश्वसेना से दिशाओं के भाग को रणांगण समान कर दिये थे। वे राजा सदाचार रूपी नदी में उत्पन्न होने वाले गिरि थे। गुणरूप पक्षियों के लिए आशय रूपी वृक्ष थे और पृथ्वी में लक्ष्मी रूपी हथिनियों के बंधनस्तंभ तुल्य थे। राजाओं में पुण्डरीक जैसे उस राजा की आज्ञा को सर्प जैसे दुराचारी राजा भी उल्लंघन नहीं कर सकते थे। उस राजा के सर्व रानियों में शिरोमणि और सपत्नियों में अवामा ऐसी वामादेवी नाम की पटराणी थी। वह अपने पति के यश जैसा निर्मल शील धारण करती थी एवं स्वाभाविक पवित्रता से मानो दूसरी गंगा हो, ऐसी ज्ञात होती थी। इन गुणों से वामा देवी राणी पति को अत्यन्त वल्लभ थी। तथापि वह वल्लभपना जरा भी बताती नहीं थी। साथ ही अभिमान भी नहीं करती थी।

(गा. 14 से 21)

इधर प्राणतकल्प में उत्तम देवसमृद्धि को भोगकर सुवर्णबाहु राजा के जीव ने अपना देव संबंधी आयुष्य पूर्ण किया। तत्पश्चात् चैत्र मास की कृष्ण चतुर्थी को विशाखा नक्षत्र में वहाँ से च्यवकर वह देव अर्ध रात्रि को वामादेवी के कुक्षी में अवतरा। उस समय वामादेवी ने तीर्थंकर के जन्म को सूचित करनेवाले चौदह महास्वप्नों को मुख में प्रवेश करते हुए देखें। इन्द्रों

ने राजा ने और तत्व वेत्ता स्वप्नपाठकों ने उन स्वप्नों की व्याख्या कह सुनायी। वह श्रवण कर हर्षित हुई देवी उस गर्भ को धारण करती हुई सुखपूर्वक काल निर्गमन करने लगी। अनुक्रम से पौष मास की कृष्ण दशमी को अनुराधा नक्षत्र में रत्न की भांति विदुरगिरि की भूमि प्रसव करे वैसे वामादेवी ने सर्प के लांछन (लक्षण) से युक्त नीलवर्णी पुत्र रत्न को जन्म दिया।

(गा. 22 से 26)

तत्काल छप्पनदिक्कुमारिकाओं ने आकर अर्हन्त प्रभु का और उनकी माता का सूचिकर्म (शुद्धि) किया। पश्चात् शक्रेन्द्र ने देवी को अवस्वापिनी निद्रा प्रक्षेप की। उनके पार्श्व (पास) में प्रभु का प्रतिबिम्ब स्थापित किया एवं स्वयं ने पांच रूपों की विकुर्वणा की। उसमें एक रूप में स्वयं ने प्रभु को ग्रहण किया, दो रूपों में चंवर धारण किया। एक रूप में प्रभु के ऊपर छत्र किया और एक रूप में वज्र उछालते हुए, सुंदर चाल से चलते हुए और तिरछी गर्दन से प्रभु को निहारते हुए शीघ्र गति से मेरुगिरि पर ले चले। क्षणभर में तो मेरुगिरि की अतिपांडुकबला नाम की शिला पर पहुँच गये। वहाँ प्रभु को उत्संग (गोद) में लेकर शक्रेन्द्र सिंहासन पर बैठे। उस समय अच्युत आदि त्रेसठ इंद्र भी शीघ्र ही वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने विधिपूर्वक प्रभु का जन्माभिषेक किया। पश्चात् सौधर्मेन्द्र ने ईशानेन्द्र के उत्संग में प्रभु को देकर वृषभ के शृंग में से निकलती जलधारा से प्रभु का अभिषेक किया। पश्चात् चंदनादिक से प्रभु का विलेपन, अर्चन, करके अंजलीबद्ध होकर इंद्र ने पवित्र स्तुति करना आरंभ किया।

(गा. 27 से 34)

"प्रियंगु वृक्ष सम नीलवर्णवाले, जगत् के प्रिय हेतुभूत एवं दुस्तर संसार रूपी सागर में सेतुरूप आपको प्रभु मैं नमस्कार करता हूँ। ज्ञान रूपी रत्न के कोश (भंडार) रूप, विकसित कमल जैसी कांतिवाले और भव्यप्राणी रूप कमल में सूर्य समान हे भगवंत! मैं आपको नमस्कार करता हूँ। फलदायी एक हजार आठ (१००८) नरलक्षणों को धारणकरने वाले और कर्मरूप

अंधकार को नष्ट करने में चंद्र जैसे प्रभु आपको मेरा नमस्कार हो। त्रिजगत् में पवित्र, ज्ञानादि रत्नत्रय के धारक, कर्मरूप स्थल को खोदने में खनित्र (खोदने का हथियार) समान और उत्तम चारित्रवान् ऐसे प्रभु आपको मेरा नमस्कार हो। सर्व अतिशय के पात्र, अत्यन्त दयावान्, सर्व संपत्ति के कारणभूत हे परमात्मन्! आपको मेरा नमस्कार हो। कषायों से विमुक्त, करूणा के क्षीरसागर एवं राग–द्वेष से मुक्त ऐसे हे मोक्षगामी प्रभु! आपको मेरा नमस्कार हो। हे प्रभो! यदि आपके चरण की सेवा का यत्किंचित् भी फल हो तो, उस फल द्वारा आपका भक्तिभाव मुझे भवोभव में प्राप्त हों।'' इस प्रकार प्रभु की स्तुति करके, उनको लेकर वामादेवी के पार्श्व में रखकर अपनी प्रक्षेप की हुई अवस्वापिनी निद्रा का और पार्श्व में रखे प्रतिबिंब का संहरण करके इंद्र अपने स्थानक में चले गये।

(गा. 35 से 42)

अश्वसेन राजा ने प्रातः काल में कारागृह मोक्षपूर्वक (कैदियों को छुड़ाकर)उनका जन्मोत्सव किया। जब प्रभु गर्भस्थ थे, तब माता ने एक बार कृष्णपक्ष की रात्रि में भी पार्श्व में से निकलते एक सर्प देखा था, पश्चात् इस हकीकत का उन्होंने अपने स्वामी से कथन किया था। तब वह स्मरण करते हुए इसमें गर्भ का ही प्रभाव ज्ञात किया था, ऐसा निर्णय करके राजा ने कुमार का पार्श्व नामकरण किया। इंद्र की आज्ञांकिता अप्सरास्वरूप धात्रियों से लालित हुए जगत्पति राजाओं के अंकों (गोद) में संचरते हुए वृद्धिगत हाने लगे। अनुक्रम से नवहस्त की अवगाहना युक्त काया वाले कामदेव की क्रीड़ा करने के उपवन जैसे और मृगाक्षियों की कामण करने वाली यौवनावस्था को प्राप्त किया। मानो नीलमणि के सारथी या नीलोत्पल की लक्ष्मी से निर्मित हो, वैसे पार्श्व प्रभु नीलकांति द्वारा सुशोभित होने लगे। विशाल शाखावाले वृक्ष की तरह आजानबाहु (लंबीभुजावाले) और बड़े तटवाले गिरि की तरह वक्षःस्थल से प्रभु विशेष शोभनीय हो गये। हस्तकमल, चरणकमल, बदनकमल और नेत्रकमल द्वारा ये अश्वसेनकुमार विकस्वर हुए कमलों के वन द्वारा जैसे विशाल द्रह (सरोवर) शोभे वैसे शोभित होने लगे।

साथ ही वज्र जैसे दृढ़ सर्प के लंछनवाले और वज्र के मध्यभाग के समान कृश उदरवाले प्रभु वज्रऋषभनाराच संहनन को धारण करते हुए अत्यन्त शोभायमान होने लगे। प्रभु के स्वरूप को देखकर स्त्रियाँ सोचने लग जाती कि 'ये कुमार जिनके पति होंगे, वह स्त्री पृथ्वी में धन्य है।'

(गा. 43 से 52)

एक बार अश्वसेन राजा राज्य सभा में जिनधर्म की कथा में तल्लीन थे कि प्रतिहार ने आकर निवेदन किया कि हे नरेश्वर! सुंदर आकृतिवाला कोई पुरुष द्वार पर आया है और वह आप स्वामी को कुछ विज्ञप्ति करना चाहता है। अतः प्रवेश की आज्ञा देकर उस पर प्रसन्न हो। राजा ने कहा कि– उसे सत्वर प्रवेश कराओ "न्यायी राजाओं के पास आकर सभी विज्ञप्ति ही करते हैं।" द्वारपाल ने उसे प्रवेश कराया। तब उसने आकर प्रथम राजा को नमस्कार किया। पश्चात् प्रतिहार द्वारा बताए आसन पर बैठा। राजा ने उसे पूछा कि हेभद्र! तुम किनके सेवक हो? कौन हो? और किस कारण से यहाँ मेरे पास आए हो? वह पुरुष बोला, "हे स्वामिन्! इस भरतक्षेत्र में लक्ष्मी का क्रीड़ास्थल जैसा कुशस्थल नामका नगर है। उस नगर में शरणार्थियों के कवच रूप और याचकों को कल्पवृक्ष रूप नरवर्मा नामक पराक्रमी राजा थे। वे अपनी सीमा के अनेक राजाओं को साधकर व प्रलयकाल के सूर्य के समान प्रचंड तेज से प्रकाशित थे। जैनधर्म में तत्पर रहकर इन राजा ने मुनिराज की सेवा में सदा उद्यत रहकर अखंड न्याय और पराक्रम से चिरकाल तक अपने राज्य का पालन किया। पश्चात् संसार से उद्वेग होने पर राज्यलक्ष्मी को तृणवत् छोड़कर, सुसाधु गुरु के पास उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।" उस पुरुष ने इतनी अर्धबात कही, वहाँ तो धार्मिकवत्सल अश्वसेन राजा हर्षित होकर सभासदों को बीच में ही उठकर बोले कि अहो! नरवर्मा राजा कितने विवेकी और धर्मज्ञ थे, कि जिन्होंने राज्य का तृणवत् त्याग कर व्रत ग्रहण किया।' नृपगण प्राणों को संशय में डालकर, बड़े बड़े युद्ध में विविध उद्यम करके राज्य प्राप्त करते हैं, उन राज्यों को प्राणांत तक भी त्याग करना मुश्किल है। अपनी और अपनी

संपत्ति से प्राणों से भी प्यारे पुत्रादि की जो रक्षा करते हैं, उनका त्याग करना वह भी प्राणियों को अशक्य है। उन सबको राजा नरवर्मा ने संसार छोड़ने की इच्छा से एक साथ छोड़ दिया। अतः उनको धन्यवाद देता हूँ। हे पुरुष? तुम्हारी बात आगे चलाओ।

(गा. 53 से 67)

वह पुरुष बोला कि–'' उन नरवर्मा राजा के राज्य पर अभी हाल उनके पुत्र प्रसेनजित् राजा हैं। वे सेनारूप सरिताओं के सागर समान हैं। उनके प्रभावती नामकी पुत्री है। जो कि यौवनवया होने से भूमि पर देवकन्या हो, वैसी अद्वैत रूपवती है। विधाता ने चंद्र के चूर्ण से उनका मुख, कमल से नेत्र, सुवर्णरज से शरीर, रक्तकमल से हाथ–पैर, कदली गर्भ से उरू, शोणमणि से नख, मृणाल से भुजादंड रचे हों, ऐसा लगता है। अद्वैत रूपलावण्य से युक्त उस बाला को यौवनवती देखकर प्रसेनजित् राजा उस के योग्य वर के लिए चिंतातुर हुए। इससे उन्होंने राजाओं के अनेक कुमारों की तलाश की। परंतु कोई भी अपनी पुत्री के योग्य दिखाई नहीं दिया। एक बार वह प्रभावती अपनी सखियों के साथ उद्यान में आई। वहाँ किन्नरों की स्त्रियों के मुख से इस प्रकार एक गीत उसके सुनने में आया। श्री वाराणसी के स्वामी अश्वसेन राजा के पुत्र श्री पार्श्वकुमार रूपलावण्य से जय को प्राप्त हैं। ऐसे पति मिलना भी दुर्लभ है क्योंकि ऐसा पुण्य का उदय कहाँ से हो? इस प्रकार श्री पार्श्वनाथ का गुणकीर्त्तन सुनकर, प्रभावती तन्मय होकर उन पर रागवती हो गई। उस समय पार्श्वकुमार ने रूप से कामदेव को जीत लिया है, उनका वैर लेता हो वैसे उन पर अनुरागवाली प्रभावती पर निर्दयता से बाण के द्वारा प्रहार करने लगे। दूसरी व्यथा और लज्जा को छोड़कर हरिणी की तरह प्रभावती तो काम के वश होकर, चिरकाल तक शून्य मन से वहीं पर ही बैठी रही। तब बुद्धिमती उसकी सखियां मन से योगिनी की तरह पार्श्वकुमार का ध्यान करती हुई उसको युक्ति द्वारा समझा कर घर लाई। तब से ही उसका चित्त पार्श्वकुमार में ऐसा लीन हुआ कि उसे पोशक भी अग्नि जैसी लगने लगी। रेशमी वस्त्र अंगारे सा प्रतीत होने

लगा और हार खड्ग की धार सम लगने लगे। उसके अंग में जल की अंजली को भी पचा दे, वैसा ताप निरंतर रहने लगा और प्रस्थ प्रमाण धान पकाये वैसे कढ़ाई को भी भर दे वैसी अश्रुधारा बहने लगी। कामाग्नि से पीड़ित हुई वह बाला प्रभात में, प्रदोष में, रात में या दिन में जरा भी सुख नहीं पाती। प्रभावती की ऐसी स्थिति देख उसकी सखियों ने यह वृत्तांत उसके रक्षण के लिए माता–पिता को ज्ञात कराया। पुत्री को पार्श्वकुमार पर अनुरक्त जानकर, उसे आश्वासन देने के लिए वे उसे बारबार इस प्रकार कहने लगे कि– पार्श्वकुमार तीन जगत् में शिरोमणि है, और अपनी दुहिता ने योग्य वर शोध लिया है। अतः अपनी पुत्री तो योग्य जनों में अग्रणी जैसी है। ऐसे मातापिता के वचन से मेघध्वनि द्वारा मयूरी की तरह प्रभावती हर्षित होने लगी एवं कुछ स्वस्थ होकर पार्श्वकुमार का नामरूप जापमंत्र को योगिनी के समान अंगुली पर गिनती गिनती आशा द्वारा दिन निगर्मन करने लगी। परंतु द्वितीय के चंद्र के समान वह ऐसी कृश हो गई कि मानो कामदेव के धनुष की दूसरी यष्टि हो, वैसी दिखाई देने लगी। दिन पर दिन उस बाला को अत्यन्त विधुर हुई देखकर उसके माता पिता ने उसे पार्श्वकुमार के पास स्वयंवरा रूप से प्रेषित करने का निश्चय किया।

(गा. 68 से 94)

ये समाचार कलिंगादि देशों के नायक यवन नामक अतिदुर्दांत राजा ने भी जाने। तब वह सभा के बीच में ही बोला कि मेरे होने पर प्रभावती को परणने वाला यह पार्श्वकुमार कौन होता है? और वह कुशस्थल का पति कौन है कि जो मुझे प्रभावती को न दे? यदि याचक के समान कोई वह वस्तु ले जाएगा तो वीर लोग उसका सर्वस्व लूट लेंगे। इस प्रकार कहकर अनन्य पराक्रमी उस यवन राजा ने विशाल सैन्य लेकर कुशस्थल के समीप आकर उसको चारों ओर से घेर लिया। इससे ध्यान करते हुए योगी के शरीर में पवन की तरह उस नगर में से कोई को भी बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं रहा। ऐसे कष्ट के समय में राजा की प्रेरणा से मैं अर्धरात्रि में उस नगर में से गुप्तरीति से बाहर निकला हूँ। मैं सागरदत्त का पुत्र

पुरुषोत्तम नाम का उस राजा का मित्र हूँ? और इस वृत्तांत को कहने के लिए ही यहाँ आया हूँ। अब आपको स्वजन और शत्रुजन के संबंध में योग्य लगे वैसा करें।

(गा. 95 से 101)

इस प्रकार उस पुरुष के वचन सुनकर अश्वसेन राजा भृकुटी से भयंकर नेत्र करके वज्र के निर्घोष तुल्य भयंकर वचन बोले कि "अरे! यह रंक यवन कौन है?" मेरे होते हुए प्रसेनजित् को क्या भय है? कुशस्थल की रक्षा करने के लिए मैं स्वयं ही उस यवन पर चढ़ाई करूँगा। इस प्रकार कहकर वासुदेव के तुल्य पराक्रमी अश्वसेन राजा ने रणभेरी का नाद कराया। उस नाद से तत्काल उनका सर्व सैन्य एकत्रित हो गया। उस समय क्रीड़ागृह में क्रीड़ा करते हुए पार्श्वकुमार ने भी उस रणभेरी का नाद और सैनिकों का बहुत कोलाहल श्रवण किया। तब यह क्या? इस प्रकार संभ्रम होकर पार्श्वकुमार पिता के पास आए। वहाँ तो रणकार्य के लिए तैयार हुए सेनापतियों ने उनको देखा। तब पार्श्वकुमार ने पिताश्री को प्रणाम करके कहा कि "हे पिताश्री! जिनके लिए आप जैसे पराक्रमी को भी ऐसी तैयारी करनी पड़े वह क्या दैत्य, यक्ष, राक्षस या अन्य कोई आपका अपराधी है?" आपके समान या आप से अधिक कोई भी तो दृष्टिगत होता है नहीं। उनके ऐसे प्रश्न से अंगुली से पुरुषोत्तम की ओर अंगुली से इशारा करके राजा ने कहा, कि "हे पुत्र! इस मनुष्य के कहने से प्रसेनजित् राजा की यवन राजा से रक्षा के लिए मेरा जाना आवश्यक है।" कुमार ने पुनः कहा कि "हे पिताश्री! युद्ध में आपके समक्ष कोई देव या असुर भी टिक नहीं सकता, ऐसा कोई नहीं है, तो मनुष्य मात्र यह यवन तो क्या भारी है?" परंतु उसके सामने आपको जाने की कोई जरूरत नहीं है। मैं ही वहाँ जाऊँगा और दूसरे को नहीं पहचानने वाले को दंड दूँगा। राजा बोले 'हे वत्स! यह तुम्हारा कोई क्रीड़ोत्सव नहीं है।' परंतु कष्टकारी रणयात्रा तुम से कराने का मेरे मन को प्रिय लगता नहीं है। मैं जानता हूँ मेरे कुमार का भुजबल तो तीन जगत् की भी विजय करके में समर्थ है। परंतु तू घर में ही क्रीड़ा करे, यह देखकर मुझे ज्यादा हर्ष होता है। पार्श्वकुमार बोले, "हे पिताजी! युद्ध करना यह

मेरे लिए क्रीड़ा रूप ही है। उसमें मुझे कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ेगा। इसलिए हे पूज्य पिताजी! आप यहीं पर ही रहें।'' पुत्र के अति आग्रह से उनके भुजबल के ज्ञाता अश्वसेन राजा ने उनके अनिंद्य वचन को स्वीकारा। पश्चात् पिता ने जब आज्ञा दी, तब पार्श्वकुमार शुभमुर्हूत में हाथी पर आसीन होकर उस पुरुषोत्तम के साथ उत्सव सहित नगर से बाहर निकले। प्रभु ने एक प्रयाण किया, तब वहाँ तो इंद्र के सारथी आकर रथ में से उतर कर अंजली जोड़कर कहने लगा–'' हे स्वामिन् ''आपको क्रीड़ा से भी युद्ध करने की इच्छा वाले जानकर यह इंद्र ने यह संग्राम योग्य रथ लेकर मुझे सारथी होने के लिए आपके पास भेजा है। हे स्वामिन् आपके पराक्रम के समक्ष तीन जगत् भी तृणवत् हैं, यह जानते हैं। तथापि यह समय ज्ञात करके वे अपनी भक्ति प्रस्तुत कर रहे हैं।'' तब पृथ्वी को भी स्पर्श नहीं कर रहे और विविध आयुधों से परिपूर्ण उस महारथ में प्रभु इंद्र के अनुग्रह से आरुढ हुए।

(गा. 102 से 120)

सूर्य सम तेजस्वी पार्श्वकुमार आकाशगामी रथ द्वारा खेचरों से स्तुत्य आगे बढ़ने लगे। प्रभु को निहारने के लिए बारम्बार ऊंची ग्रीवा करके रहे हुए सुभटों से सुशोभित प्रभु का सर्व सैन्य भी प्रभु का अनुकरण करता पीछे–पीछे चला। प्रभु क्षणभर में वहाँ पहुँचने में और एकाकी ही उस यवन पर विजय प्राप्त करने में समर्थ थे परंतु सैन्य के उपरोध से वे छोटे छोटे प्रयाण कर रहे थे। कुछेक दिनों में कुशस्थल के समीप आ पहुँचे। वहाँ उद्यान में देवों द्वारा विकुर्वित सप्त मंजिले महल में आकर रहने लगे। क्षत्रियों की रीति के अनुसार एवं साथ ही दयानिधान प्रभु ने प्रथम यवनराजा के पास एक सद्बुद्धि निधान दूत को शिक्षा देकर भेजा। उस दूत ने यवन राजा के पास जाकर उसे प्रभु की शक्ति से विदित कराया और कहने लगा कि ''हे राजन! श्रीपार्श्वकुमार अपने श्रीमुख से तुमको इस प्रकार आदेश कर रहे हैं कि इन प्रसेनजित् राजा ने मेरे पिता का शरण स्वीकार किया है, अतः उनको रोध से और विरोध से छोड़ दो। मेरे पिता तो स्वयं युद्ध के लिए आ रहे थे,

उनको महाप्रयत्न से रोक कर इस हेतु से मैं यहाँ आया हूँ। अब यहाँ से वापिस शीघ्र अपने ठिकाने चले जाओ। यदि तुम शीघ्र ही यहाँ से चले जाते हो तो तुम्हारा यह अपराध हम सहन कर लेंगे।'' दूत के इस प्रकार के वचन सुनकर ललाट पर भयंकर और उग्र भृकुटी चढ़ाकर यवनराज बोले 'अरे दूत! यह तू क्या बोलता है? क्या तू मुझे नहीं पहचानता? यह बालक पार्श्वकुमार यहाँ युद्ध करने आया है, तो क्या हुआ? और यदि वृद्ध अश्वसेन राजा स्वयं भी आते तो इससे भी मेरे लिए क्या है? इसलिए हे दूत! जा, कहना पार्श्वकुमार को कि यदि अपनी कुशलता चाहता है तो चला जा। तू ऐसे निष्ठुर वचन बोलता है। उस उपरांत भी दूत होने के कारण तू अवध्य है, इसलिए तुझे जिंदा जाने देता हूँ। तू जाकर अपने स्वामी को सर्व हकीकत कह देना। दूत ने पुनः कहा कि, 'अरे दुराशय! मेरे स्वामी पार्श्वकुमार ने तुझ पर दया लाकर ही तुझे समझाने के लिए मुझे यहाँ भेजा है। असमर्थता से नहीं। यदि तुम उनकी आज्ञा मान लोगे तो जैसे वे कुशस्थल के राजा का रक्षण करने के लिए यहाँ आए हैं, वैसे तुझे भी मारना नहीं चाहते। परंतु जिन प्रभु की आज्ञा का स्वर्ग में भी अखंड रूप से पालन किया जाता है, उसका खंडन करने हे मूढमति! तू यदि खुश होता है तो तू वास्तव में अग्नि की कांति के स्पर्श से खुश होने वाला पतंग जैसा ही है। क्षूद्र ऐसा खद्योत कहां और सर्व विश्व प्रकाशित करने वाला सूर्य कहाँ? उसी प्रकार एक क्षूद्र राजा जैसा तू कहाँ और तीन जगत् के पति पार्श्वकुमार कहाँ?

(गा. 121 से 137)

उपर्युक्त दूत के वचन सुनकर यवन के सैनिक क्रोध से आयुध ऊंचे करके खड़े हो गये और उच्च स्वर में कहने लगे– अरे! अधम दूत! तुझे तेरे स्वामी के साथ क्या बैर है कि उनका द्रोह करने के लिए तू ऐसे बोल रहा है? तू भली प्रकार से सर्व उपायों को जानता है। ऐसा कहकर वे रोषित होते हुए उस पर प्रहार करने की इच्छा करने लगे। उस समय एक वृद्ध मंत्री ने आक्षेपयुक्त कठोर शब्दों में कहा कि यह दूत अपने स्वामी का बैरी नहीं है। परंतु तुम तुम्हारे स्वामी के बैरी हो, जो स्वेच्छा से ऐसा वर्तन करके

स्वामी को अनर्थ उत्पन्न करते हो। अरे मूढ़ों! जगत्पति श्री पार्श्वनाथ की मात्र आज्ञा का उल्लंघन करना, वह भी अपनी कुशलता के लिए नहीं है, तो फिर इस दूत का घात करने की तो बात ही क्या करना? तुम्हारे जैसे सेवक दुर्दांत घोड़े के जैसे अपने स्वामी को खींचकर तत्काल अनर्थरूप अरण्य में फैंक देते हैं। तुमने पहले भी अन्य राजाओं के दूतों को घार्षित (ताडित) किया है, उसमें जो तुम्हारी कुशलता रही है, उसका कारण यह था कि अपने स्वामी उनसे अधिक समर्थ थे। परंतु इन पार्श्वनाथ प्रभु के तो चौसठ इंद्र भी सेवक हैं। तो ऐसे समर्थ के साथ अपने स्वामी को तुम्हारे जैसे दुर्विनीत कीटों द्वारा युद्ध करना, वह कितना अधिक हानिकारक है।

(गा. 138 से 145)

मंत्री के ऐसे वचन सुनकर सर्व सुभट भयभीत होकर शांत हो गये। पश्चात् उस दूत का हाथ पकड़ कर मंत्री ने सामवचन से कहा– हे विद्वान दूत! मात्र शस्त्रोपजीवी ऐसे इन सुभटों ने जो कुछ कहा, वह तुम सहन कर लेना, क्योंकि तुम एक क्षमानिधि राजा के सेवक हो। हम श्री पार्श्वप्रभु के शासन को शिरोधार्य करने के लिए तुम्हारा अनुगमन करते हुए पीछे पीछे आवेंगे। अतः इनके वचन तुम स्वामी को कहना नहीं। इस प्रकार उसे समझाकर और सत्कार करके मंत्री ने दूत को विदा किया। तत्पश्चात् उस हितकामी मंत्री ने अपने स्वामी को कहा– "हे स्वामिन्! आपने विचार किये बिना जिसका दुष्कर परिणाम आवे ऐसा कार्य कैसे किया?" परन्तु अभी भी कुछ बिगड़ा नही है, शीघ्र ही जाकर उन पार्श्वनाथ प्रभु का आश्रय लो। जिनका सूतिका कर्म देवियों ने किया, जिनका धात्रिकर्म भी देवियों ने किया है, जिनका जन्मस्नान अनेकानेक देवों सहित इंद्रों ने किया है, इतना ही नहीं देव सहित इंद्रगण जिनके सेवक होकर रहते हैं, उन प्रभु के साथ ही विग्रह करना हो तो हाथी के साथ मेंढा के विग्रह करने जैसा है।" पक्षीराज गरुड कहाँ और कंकोल पक्षी कहाँ?" ऐसे ही वे पार्श्वनाथ कहाँ और आप कहाँ? अतः जब लोगों के जानने में न आवे, तब तक आत्महित करने की इच्छा से कंठपर कुल्हाड़ा लेकर आप अश्वसेन कुमार पार्श्वनाथ की शरण

में जाओ, और विश्व पर शासनकर्त्ता उन पार्श्वनाथ स्वामी के शासन को ग्रहण करो। जो उनके शासन को वर्तते हैं, वे इहलोक और परलोक में निर्भय हो जाते हैं।

(गा. 146 से 155)

मंत्री के इस प्रकार के वचनों को सुनकर यवनराज क्षणभर विचार करके बोले – 'हे मंत्री! आपने मुझे उत्तम बोध दिया, जैसे किसी अंधे को कोई कुएँ में गिरने से बचा ले, वैसे ही जड़बुद्धि वाले मुझे अनर्थ से बचा लिया।' इस प्रकार कहकर यवनराज कंठ में कुल्हाड़ा बांधकर, पार्श्वनाथ से अलंकृत उद्यान में परिवार सहित आया। वहाँ सूर्य के अश्व के सदृश लाखों घोड़ों से ऐरावत हाथी जैसे हजारों भद्र गजेन्द्रों से, देवविमान जैसे अनेक रथों से और खेचर जैसे संख्याबद्ध पायदलों से सुशोभित ऐसा पार्श्वनाथ का सैन्य देखकर यवनराज अत्यन्त विस्मित हो गया। स्थान स्थान पर पार्श्वकुमार के सुभटों से विस्मय और अवज्ञा से दृष्ट वह यवनराज अनुक्रम से प्रभु के प्रासाद के द्वार के समीप आया। इसके पश्चात् छड़ीदार से इजाजद लेकर उसने सभा स्थान में प्रवेश किया। तब उसने दूर से ही सूर्य सम प्रभु को नमस्कार किया। प्रभु ने उसके कंठ से कुल्हाड़ा हटवा दिया। तत्पश्चात् वह यवन प्रभु के समक्ष अंजलीबद्ध होकर इस प्रकार बोला– हे स्वामिन्! आपके समक्ष इन्द्र भी आज्ञाकारी होकर रहते हैं, तो अग्नि के सामने तृणतुल्य मैं मनुष्य कीट क्या हूँ? आपने शिक्षा देने के लिए मेरे पास दूत भेजा, वह मुझ पर महती कृपा की। नहीं तो आपके भृकुटी के भंग मात्र से मैं भस्मीभूत क्यों न हो जाऊँ? हे स्वामिन्! मैंने आपका अविनय किया, वह भी मेरे लिए तो गुणकारी सिद्ध हुआ है, क्योंकि इससे मुझे तीन जगत् के पवित्रकारी आपश्री के दर्शन हुए। मुझे क्षमा कीजिए ऐसा कहना भी आपके लिए उचित नहीं, क्योंकि आपके हृदय में कोप ही नहीं है, मुझे दण्ड दो ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि आप तो स्वामी हो। इन्द्रों से सेवित ऐसे आपको यदि मैं यह कहूँ कि 'मैं आपका सेवक हूँ, तो यह भी 'अघटित' है, और 'मुझे अभय दो' यह कहना भी योग्य नहीं, कारण कि आप स्वयंमेव

'अभयदाता' हो। तथापि अज्ञानता के कारण मैं अर्ज करता हूँ कि 'आप मुझ पर प्रसन्न होवें। मेरी राज्यलक्ष्मी को ग्रहण करो। मैं तो आपका सेवक हूँ अतः भय से आक्रान्त मुझे अभय देवें। यवन के ऐसे वचन श्रवण करके पार्श्वनाथ ने कहा– 'हे भद्र! तुम्हारा कल्याण हो, भयभीत मत होओ और सुखपूर्वक अपने राज्य का पालन करो। पुनः कभी ऐसा मत करना।' प्रभु के ऐसे वचनों को सुनकर 'तथास्तु' ऐसा कहते हुए प्रभु ने यवनराज का सत्कार किया। 'महज्जनों के प्रसाद दान से सर्व की स्थिति उत्तम होती है।'

(गा. 156 से 170)

तत्पश्चात् प्रसेनजित् राजा का राज्य और कुशस्थल नगर शत्रु के घेरे से रहित हुआ। तब पुरुषोत्तम पार्श्वनाथ की आज्ञा लेकर नगर में गया। उसने प्रसेनजित् राजा के पास जाकर सर्व वृत्तान्त कह सुनाया। सुनकर सर्व नगर में हर्ष का छत्र रूप महोत्सव प्रवृत्त हुआ। प्रसेनजित् राजा प्रसन्न होकर विचार करने लगे कि 'मैं सर्वथा भाग्यवान हूँ, और मेरी पुत्री प्रभावती भी सर्वथा भाग्यवती है। मेरे मन में ऐसा मनोरथ भी नहीं था कि जो सुरासुरपूजित पार्श्वनाथ कुमार मेरे नगर को पवित्र करेंगे।' अब उपहार स्वरूप प्रभावती को लेकर मैं उपकारी पार्श्वनाथ कुमार के पास जाऊँ। इस प्रकार विचार करके प्रसेनजित् राजा प्रभावती को साथ लेकर हर्षित होकर परिवार सहित पार्श्वनाथ के पास आए और प्रभु को नमस्कार करके अंजलीबद्ध होकर बोले– 'हे स्वामिन्! आपका आगमन बादल बिना वृष्टि के तुल्य भाग्ययोग से आकस्मिक हुआ है। वह यवनराज मेरा शत्रु होने पर भी मेरा उपकारी सिद्ध हुआ है, कि जिनके विग्रह से त्रिजगत्पति ऐसे आपने आकर मुझ पर अनुग्रह किया। हे नाथ! जिस प्रकार दया लाकर यहाँ आकर मुझ पर अनुग्रह किया, उसी प्रकार मेरी पुत्री प्रभावती के साथ विवाह करके पुनः अनुग्रह करो। यह प्रभावती दुष्प्राप्य वस्तु की (आपकी) प्रार्थना करने वाली है, और वह दूर होने पर भी आप पर अनुरागी है, अतः आप इस पर कृपा करो। वैसे आप स्वभाव से ही कृपालु हैं।

(गा. 171 से 180)

उस समय प्रभावती ने चिन्तन किया कि 'मैंने पूर्व में किन्नरियों से जिनके विषय में सुना था, वे पार्श्वनाथ कुमार आज मुझे दृष्टिगोचर हुए हैं।' 'अहो! दृष्टि से देखने पर जैसा श्रवण किया था, वैसा ही मिलता है। दाक्षिण्य युक्त एवं कृपावन्त, जैसा सुना था, वैसा ही है।' इन कुमार को पिताश्री ने मेरे लिए रोका, यह अच्छा किया। तथापि भाग्य की प्रतीति न होने से ये पिताश्री के वचन मान्य करेंगे या नहीं, ऐसी शंका से आकुलित हो शंकित हो रही हूँ। प्रभावती ऐसे चिन्तातुर थी, और राजा प्रसेनजित सन्मुख खड़े थे। उस वक्त पार्श्वकुमार मेघ के सम निर्घोष धीर वाणी से बोले– 'हे राजन्! मैं पिताश्री की आज्ञा से मात्र आपके रक्षार्थ यहाँ आया हूँ, आपकी कन्या को परणने नहीं। इसलिए हे कुशस्थलपति! इस विषय में आप वृथा ही आग्रह करना नहीं। पिता के वचनों का अमल करके, अब मैं पुनः पिता के पास जाऊँगा। पार्श्वकुमार का कथन श्रवण करके खेदित होकर वह विचारने लगी कि दयालु पुरुष के मुखारविन्द से ऐसे शब्द निकले। 'वह चन्द्रमा से मानो अग्नि का झरण हुआ वैसा है। ये कुमार सब के ऊपर कृपालु है, और मुझ पर कृपारहित हो गए।' इससे हा! हा! अब क्या होगा? 'इससे तो यह विदित होता है कि प्रभावती मंदभाग्या है।' सदैव पूजित हे कुलदेवियों! तुम शीघ्र ही आकर मेरे स्वामी को कुछ उपाय बताओ, क्योंकि अभी ये उपाय रहित हो गए हैं। राजा प्रसेनजित ने विचार किया कि ये पार्श्वनाथ स्वयं तो सर्वत्र निस्पृह है, परन्तु वे अश्वसेन राजा के आग्रह से मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे। इसलिए अश्वसेन राजा को मिलने के बहाने मैं इनके साथ ही जाऊँ और वहाँ इच्छित की सिद्धि के लिए मैं स्वयं अश्वसेन राजा को आग्रह करूँ। ऐसा विचार करके उन्होंने पार्श्वकुमार के वचन से यवनराजा से मैत्री करके उनको विदा किया। पश्चात् पार्श्वनाथ प्रभु को विदा करते समय प्रसेनजित बोले कि, 'हे प्रभु! अश्वसेन राजा के चरणों में नमन करने के लिए मैं आपके साथ आऊँ?' पार्श्वनाथ ने खुश होकर स्वीकृति प्रदान की। तब प्रसेनजित् राजा प्रभावती को साथ लेकर उनके साथ वाराणसी आये।

(गा. 181 से 194)

शरणागत के रक्षण से अश्वसेन राजा को रंजित करते हुए पार्श्वनाथ ने स्वयं के दर्शन से सर्व को आनन्दित किया। तब अश्वसेन राजा ने खड़े होकर चरणों में आलोटते हुए प्रसेनजित् राजा को खड़ा करके, दोनों भुजाओं से आलिंगन करके संभ्रम से पूछा कि 'हे राजन्! आपकी रक्षा अच्छी तरह हो गई? आप कुशल हैं? आप स्वयं यहाँ पधारे, इससे मुझे कुछ शंका हो रही है।' प्रसेनजित् बोले– 'प्रताप द्वारा आप सूर्य के सदृश जिनके रक्षक है, ऐसे मुझे तो सदैव रक्षण और कुशलता ही है।' परन्तु हे राजन्? एक दुष्प्राप्य वस्तु की प्रार्थना मुझे सदा पीड़ित करती है। वह मेरी प्रार्थना आपके प्रासाद से ही सिद्ध होगी। हे महाराजा! मेरे प्रभावती नाम की एक कन्या है। उसे मेरे आग्रह से पार्श्वनाथ कुमार के लिए ग्रहण करो। यह मेरी प्रार्थना अन्यथा मत कीजिएगा। अश्वसेन ने कहा, यह मेरा पार्श्वकुमार सदा संसार से विरक्त है। इससे वह क्या करेगा, यह अब तक मेरी समझ में नहीं आता है। हमारे तो मन में भी सदा ऐसा ही मनोरथ रहता है कि 'इस कुमार के योग्य वधु के साथ विवाहोत्सव कब होगा?' जबकि यह बाल्यवय से ही स्त्रीसंग को इच्छते नहीं है। तो भी अब आपके आग्रह से उसका प्रभावती के साथ ही जबरदस्ती विवाह करेंगे। इस प्रकार कहकर अश्वसेन राजा प्रसेनजित् को साथ में लेकर पार्श्वकुमार के पास आए और कहा कि, हे कुमार! इन प्रसेनजित् राजा की पुत्री के साथ विवाह करो। पार्श्वकुमार बोले– 'हे पिताजी! स्त्री आदि का परिग्रह क्षीणप्राय हुआ संसाररूपी वृक्ष का जीवनौषध है, तो ऐसे त्याज्य संसार का आरंभ करने वाली रस कन्या के साथ मैं क्यों विवाह करूँ?' मूल से ही परिग्रह रहित होकर मैं संसार से तिर जाऊँगा? अश्वसेन बोले– 'हे कुमार! 'इन प्रसेनजित् राजा की कन्या का पाणिग्रहण करके एक बार हमारा मनोरथ पूर्ण करो।' हे पुत्र! जिनके ऐसे सद्विचार हैं, वो संसार से तिरा हुआ ही है। अतः विवाह करके पश्चात् जब योग्य समय आवे तब उसके अनुसार अपने स्वार्थ को सिद्ध करना। इस प्रकार पिता के वचन का उल्लंघन करने में असमर्थ होकर पार्श्वकुमार ने योग्यकर्म क्षय करने के लिए प्रभावती का पाणिग्रहण किया। तब लोगों

के आग्रह से उद्यान तथा क्रीड़ागिरि आदि में प्रभावती के साथ क्रीड़ा करते हुए प्रभु दिन निर्गमन करने लगे।

(गा. 195 से 211)

एक दिन पार्श्वप्रभु महल के ऊपर गवाक्ष में बैठे कौतुक से समग्र वाराणसी पुरी का अवलोकन कर रहे थे। इतने में पुष्पों के उपहार आदि के करंडक (छाबड़ी) लेकर शीघ्रता से नगर के बाहर जाते हुए अनेक स्त्री–पुरुषों को देखा। तब समीपस्थ लोगों का पूछा कि आज कौन सा महोत्सव है, कि जिससे ये लोग अलंकारादि धारण करके जल्दी जल्दी नगर से बाहर जा रहे हैं? इसके उत्तर में किसी पुरुष ने कहा, 'हे देव! आज कोई महोत्सव नहीं है। परन्तु इसका कारण तो दूसरा है। इस नगरी के बाहर कमठ नामका कोई तपस्वी आया है, वह पंचाग्नि तप कर रहा है, उसकी पूजा करने के लिए नगरजन वहाँ जा रहे हैं।' यह सुनकर पार्श्वनाथ प्रभु उस कौतुक को देखने के लिए परिवार सहित वहाँ गये। अर्थात् कमठ को पंचाग्नि (अर्थात् चार दिशा में अग्निकुण्ड और मस्तक पर सूर्य = पंचाग्नि) तप करते हुए वहाँ देखा। त्रिविध ज्ञानधारी प्रभु ने उपयोग से अग्निकुण्ड में काष्ठ के अंतरभाग में स्थित एक विशाल सर्प को जलते हुए देखा। तब करुणानिधि भगवान् बोले कि 'अहो! यह कैसा अज्ञान! जिस तप में दया नहीं, वह तप ही नहीं है।' जैसे जल बिना नदी, चन्द्र रहित रात्रि और मेघ के बिना वर्षा वैसे दया रहित धर्म भी कैसा? पशु की भाँति कभी काया के क्लेश को चाहे जितना सहन करो, परन्तु धर्म तत्त्व को स्पर्श किये बिना निर्दय ऐसे प्राणी को धर्म किस प्रकार हो? यह सुनकर कमठ बोला कि राजपुत्र तो हाथी, घोड़े आदि से खेलना जानते हैं, धर्म तो हमारे जैसे मुनि ही जानते हैं। तब प्रभु ने तत्काल ही अपने सेवक को आज्ञा दी कि 'इस कुण्ड में से इस काष्ठ को खींचकर निकालो और उसे यतना से फाड़ो कि जिससे इस तापस को प्रतीति हो।' उन्होंने 'कुण्ड में से उस काष्ठ को बाहर निकाल कर जयणा पूर्वक फाड़ा। तब उसमें से एकदम एक विशाल सर्प निकला। अर्द्धदग्ध उस सर्प को प्रभु ने अन्य पुरुष से नवकार मंत्र सुनाया एवं

पच्चक्खाण कराये।' उस समाधि वाले नाग ने भी भगवान् की कृपा दृष्टि से सिंचित होकर शुद्ध बुद्धि से नवकार सुना और पच्चक्खाण ग्रहण किये। तत्काल ही आयुष्य पूर्ण होने से नवकार मंत्र के प्रभाव से और प्रभु के दर्शन से मरण के पश्चात् 'धरण' नाम का नागराज हुआ। तब अहो! इन पार्श्वकुमार का ज्ञान और विवेक असाधारण हैं, ऐसे लोगों से स्तुत्य पार्श्वप्रभु स्वस्थानक गये। इस घटना को देखकर और सुनकर कमठ तापस विशेष कष्टकारी तप करने लगा। परन्तु मिथ्यात्वी को अत्यन्त कष्ट भोगने पर भी ज्ञान कहाँ से हो? अनुक्रम से वह कमठ तापस मृत्यु प्राप्त करके भुवनवासी देवों की मेघकुमार निकाय में मेघमाली नामक देव हुआ।

(गा. 212 से 230)

श्री पार्श्वनाथ प्रभु ने अपने भोगावली कर्म को भोग्य हुआ जानकर दीक्षा लेने में मन जोड़ा। उस समय प्रभु के भावों को जानते हो वैसे लोकान्तिक देवों ने आकर पार्श्वनाथ प्रभु को विज्ञप्ति की कि हे नाथ! 'तीर्थ का प्रवर्तन कीजिए।' यह सुनकर 'प्रभु ने कुबेर की आज्ञा से जृंभक देवों से पूरित द्रव्य द्वारा वार्षिक दान देना प्रारंभ किया।' पश्चात् 'शक्रादि इन्द्रों ने और अश्वसेन प्रमुख राजाओं ने श्री पार्श्वनाथ प्रभु का दीक्षा अभिषेक किया।' तब देव और मानवों ने वहन करने योग्य ऐसी विशाला नाम की शिबिका में विराजमान होकर आश्रमपद उद्यान के समीप पधारे। मरुबक (मरवा) के सघन पौधों से जिसकी भूमि श्याम हो गई थी, जो डोलर की कलियों से मानो कामदेव की प्रशस्ति (प्रशंसा पत्र को धारण करते हो) ऐसा दृष्टिगत हो रहा था। जिनके मुचकुन्द और निकुरंब के वृक्षों को भ्रमरगण चुम्बन करते थे। आकाश में उड़ते चिंरौजी वृक्ष के पराग से जो सुंगधमय हो रहा था। जिसमें इक्षुदंड के क्षेत्रों में बैठकर उद्यानपालिकाएँ उच्च स्वर में गाती थी, ऐसे उद्यान में अश्वसेन कुमार श्री पार्श्वनाथ ने प्रवेश किया। तत्पश्चात् तीस वर्ष की वय वाले प्रभु ने शिबिका से उतरकर आभूषणादि सर्व का त्यागकर दिया और इन्द्र प्रदत्त एक देवदूष्य वस्त्र धारण किया। पौषमास की कृष्ण एकादशी को चन्द्र के अनुराधा नक्षत्र में आने पर श्री

पार्श्वनाथ प्रभु ने अष्टम तप करके तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा ली। तत्काल प्रभु को मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ। यह ज्ञान सर्व तीर्थंकरों को दीक्षा महोत्सव के समय उत्पन्न होता है।

(गा. 231 से 241)

दूसरे दिन कोष्टक नामक गांव में धन्य नाम के गृहस्थ के घर प्रभु ने पायसान्न से पारणा किया। देवताओं ने वहाँ वसुधारादि पंच दिव्य प्रगट किये, और धन्य ने प्रभु के पगलों की भूमि पर एक पादपीठ बनाया। उसके पश्चात् वायु के समान प्रतिबंध हित ऐसे प्रभु ने युगमात्र दृष्टिपात् करते हुए अनेक गांव आकर और नगर आदि में छद्मस्थ रूप में विहार करने लगे। एक वक्त विहार करते हुए प्रभु किसी नगर के पास तापस के आश्रम के समीप आए। तब तक वहाँ तो सूर्य अस्त हो गया। तब रात्रि हो जाने से एक कुए के पास बड़वृक्ष के नीचे जगद्गुरु शाखा की भाँति निष्कंप होकर कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित हो गए।

(गा. 242 से 246)

इधर उस मेघमाली नाम के मेघकुमार देव ने अवधिज्ञान द्वारा पूर्वभव का व्यतिकर जाना। तब पार्श्वनाथ के जीव के साथ प्रत्येक भव में अपना बैर भाव याद करके वड़वानल से सागर की भाँति वह अंतर में अत्यन्त क्रोध द्वारा प्रज्वलित हुआ। जैसे पर्वत को भेदने के लिए हाथी आता है, वैसे ही वह अधम देव अमर्ष रखकर पार्श्वनाथ को उपद्रव करने के लिए वहाँ आया। सर्वप्रथम तो उसने दाढ़रूपी करवत से भयंकर मुख वाले, वज्र जैसे नखांकुर को धारण करने वाले और पिंगल नेत्रवाले केशरीसिंहों की विकुर्वणा की। वे पूँछ द्वारा भूमी–पीठ पर बारंबार प्रहार करने लगे और मृत्यु के मंत्राक्षर जैसे धुत्कार शब्द करने लगे। तथापि ध्यान में निश्चल लोचन करके रहे प्रभु किंचित् मात्र भी क्षुब्ध नहीं हुए। अर्थात् ध्याग्नि से भयभीत हुए वे कहीं चले गए। उसके बाद उसने गर्जना करते और मद का वर्षण करते जंगम पर्वत तुल्य विशाल हाथियों की विकुर्वणा की। भयंकर से भी भयंकर ऐसे उन गजेन्द्रों से भी प्रभु जरा भी क्षोभ को प्राप्त नहीं हुए। इससे

वे लज्जित हुए हों वैसे तत्काल ही वहाँ से कहीं चले गए। तत्पश्चात् हिक्कानाद से दिशाओं को पूर्ण करते और दयाहीन अनेक रीछ, यमराज की सेना तुल्य क्रूर अनेक चीते, कंटक के अग्रभाग से शिलाओं को भी भेदन करने वाले बिच्छू और दृष्टि से वृक्षों को भी जला दे, वैसे दृष्टिविष सर्पों की विकुर्वणा की। वे सर्व उपद्रव करने की इच्छा से प्रभु के पास आये। तथापि सरिताओं से समुद्र के सदृश प्रभु ध्यान से चलित नहीं हुए। तब उसने विद्युत् सहित मेघ की तरह हाथ में कर्तिका (शस्त्र) को रखने वाले, ऊँची दाढ़ों वाले किलकिल शब्द करते हुए वैतालों की विकुर्वणा की, जिन पर सर्प लटकते हो वैसे वृक्षों के जैसी लंबी जिह्वा और शिश्न (लिंग), दीर्घ जंघा तथा चरण से ताड़ वृक्ष पर आरुढ़ हुए हों वैसे लगते थे। मानो जठराग्नि हो वैसे मुख में से ज्वाला निकालते वे वैताल हाथी पर श्वान दौड़े वैसे प्रभु की ओर दौड़े परन्तु ध्यान रूपी अमृत के द्रह में लीन हुए प्रभु उन पर भी क्षुभित नहीं हुए। तब दिन में उलूक (उल्लू) पक्षी की भाँति वे भाग कर कहीं चले गए। प्रभु की ऐसी दृढ़ता देखकर मेघमाली असुर को उल्टा विशेष रूप से क्रोध चढ़ा। इससे उसने कालरात्रि के सहोदर जैसे भयंकर मेघ आकाश में विकुर्वे। उस समय आकाश में कालजिह्वा जैसी भयंकर विद्युत् चमकने लगी। ब्रह्माण्ड को भी फोड़ डाले वैसी मेघ गर्जना से समस्त दिशाएँ व्याप्त हो गई। नेत्र के व्यापार का हरण करे वैसा घोर अंधकार छा गया। इसके फलस्वरूप अंतरिक्ष और पृथ्वी मानो एकत्रित होकर पिरो दिये गये हों, वैसे हो गए। तब इस मेरे पूर्व वैरी का मैं संहार कर डालूँ ऐसी दुर्बुद्धि से मेघमाली कल्पांत काल के मेघ जैसे बरसने लगा। मूसल और बाण जैसी धाराओं से मानो पृथ्वी को कुल्हाड़े द्वारा खोदता हो, वैसा ताड़न करने लगा। उसके प्रहार से पक्षी उछल उछल कर गिरने लगे। ऐसे ही वराह और महिष आदि पशु भी इधर-उधर भागमभाग करने लगे। पानी के अति वेग से भयंकर जलप्रवाह में अनेक प्राणिगण बहने लगे। बड़े-बड़े वृक्षों को भी मूल में से उन्मूलन करने लगे। श्री पार्श्वनाथ प्रभु के क्षणभर में तो वह जल घुटने तक आ गया, क्षणभर में जानु तक और फिर क्षणमात्र में कटि तक और क्षणभर में कंठ तक आ पहुँचा। मेघामाली देव ने जब वह जल सर्वत्र प्रसारित किया,

तब पद्मद्रह में लक्ष्मी के स्थान रूप महापद्म की भाँति प्रभु उस जल में शोभित होने लगे। रत्नशिला के स्तम्भ के समान उस जल में भी निश्चल रहे प्रभु नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके रहे। जरा भी चलित नहीं हुए। अंत में वह जल पार्श्वप्रभु के नासिका के अग्रभाग तक आ गया।

(गा. 247 से 271)

उस समय अवधिज्ञान से धरणेन्द्र को ज्ञात हुआ कि 'अरे! वह बाल तापस कमठ मेरे प्रभु को बैरी मानकर उपद्रव कर रहा है।' अतः वे तत्काल अपने महिषियों के साथ नागराज धरणेन्द्र वेग से मन के साथ स्पर्धा करते हों, वैसे शीघ्र ही प्रभु के पास आए। प्रभु को नमन करके धरणेन्द्र ने उनके चरण के नीचे केवली के आसन समान और नीचे रहा हुआ लम्बी नाल वाला सुवर्ण कमल की विकुर्वणा की। पश्चात् उन भोगीराज ने अपनी काया से प्रभु के पृष्ठ और दोनों पार्श्व को आवृत करके सात फणों द्वारा प्रभु के मस्तक पर छत्र कर दिया। जल की ऊँचाई जैसे लम्बे नाल वाले कमल के ऊपर समाधि में लीन होकर सुख में स्थित प्रभु राजहंस सम शोभित होने लगे। भक्ति भाव युक्त चित्तवाली धरणेन्द्र की स्त्रियाँ प्रभु के आगे गीत नृत्य करने लगी। वेणु वीणा के तार ध्वनि और मृदंग का उद्धृत नाद, विविध ताल का अनुसरण करता हुआ वृद्धिगत होने लगा। विचित्र चारु चारित्र वाला, हस्तादिक के अभिनय से उज्ज्वल और विचित्र अंगहार से रमणिक नृत्य होने लगा। उस समय ध्यान में लीन हुए प्रभु नागाधिराज धरणेन्द्र पर और असुर मेघमाली पर समान भाव रखते थे। इस उपरान्त भी कोप वृष्टि करते मेघमाली को देखकर धरणेन्द्र उस पर क्रोध करके आक्षेप से बोले, 'अरे! दुर्मति! अपने अनर्थ के लिए यह तूने क्या आरंभ किया है?' मैं इस महाकृपालु प्रभु का शिष्य हूँ। तथापि अब मैं यह सहन करूँगा नहीं। उस वक्त इन प्रभु ने काष्ट में जलते सर्प को बताकर उल्टा तुझे पाप करते अटकाया। इसमें तेरा क्या अपराध किया? अरे! मूढ़ खारी जमीन में गिरा मेघ का जल भी लवण के लिए हो जाता है, वैसे ही प्रभु का सदुपदेश भी तेरे लिए बैर का कारण हो गया। निष्कारण बन्धु ऐसे प्रभु पर निष्कारण

शत्रु होकर तूने जो यह कार्य किया है, यह अब दूर कर दे, अन्यथा अब तू रह भी नहीं सकेगा। धरणेन्द्र के इन वचनों से मेघमाली ने नीची दृष्टि करके नागेन्द्र से सेवित पार्श्वप्रभु को देखा। इससे उसने चिन्तन किया कि 'चक्रवर्ती पर उपद्रव करने वाले मलेच्छों से आराधित मेघकुमारों की शक्ति जैसे वृथा हो जाती है, वैसे ही इन पार्श्वनाथ पर मैंने जो शक्ति प्रयुक्त की, वह सब वृथा ही गई है। ये प्रभु एक मुष्ठि से पर्वत को भी चूर्ण करने में समर्थ हैं, तथापि ये करुणानिधि होने से मुझे भस्म नहीं करते। परन्तु इस धरणेन्द्र से मुझे भय है। इन त्रैलोक्यपति का अपकार करके त्रैलोक्य में भी मेरी स्थिति नहीं हो सकेगी, तो फिर मैं किसकी शरण में जाऊँगा? यदि इन प्रभु का शरण मिले तो ही मैं उठ सकूँगा एवं मेरा हित होगा। इस प्रकार विचार करके तत्काल ही मेघमंडल का संहरण करके भयभीत होता हुआ मेघमाली प्रभु के पास आया, और नमस्कार करके बोला कि हे प्रभु! यद्यपि आप तो अपकारी जन पर भी क्रोध करते नहीं हो, तथापि मैं अपने स्वयं के दुष्कर्म से ही दूषित होने से भयभीत हूँ। ऐसा दुष्कर्म करने पर भी मैं निर्लज्ज होकर आपके पास याचना करने आया हूँ। अतः 'हे जगन्नाथ! दुर्गति में गिरते शंकाशील इस दीन जन की रक्षा करो, रक्षा करो।' इस प्रकार कहकर प्रभु से क्षमा मांग कर नमस्कार करके मेघमाली देव पश्चाताप करते-करते अपने स्थान पर गया। पश्चात् प्रभु को उपसर्ग रहित जानकर स्तुति और प्रणाम करके नागराज धरणेन्द्र भी अपने स्थानक गये। इधर रात्रि भी व्यतीत हो गई और प्रभात काल हो गया।

(गा. 272 से 296)

भगवंत वहाँ से विहार करके अनुक्रम से वाराणसी पुरी के समीप आकर आश्रमपद नाम के उद्यान में घातकी वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग ध्यान में रहे। वहाँ दीक्षा के दिन से चौरासी दिन व्यतीत होने पर शुभ ध्यान से प्रभु के घातीकर्म क्षय हो गये और चैत्रमास की कृष्ण पक्ष की चतुर्थी को, चन्द्र के विशाखा नक्षत्र में आने पर, पूर्वाह्नकाल में प्रभु को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय शक्र प्रमुख देवताओं के आसनकम्प होने से सर्व हकीकत

ज्ञात होने पर वहाँ आकर समवसरण की रचना की। प्रभु ने पूर्व द्वार से समवसरण में प्रवेश किया। समवसरण के मध्यभाग में आए सत्तावीस धनुष उत्तुंग चैत्यवृक्ष को मेरु को सूर्य की भाँति प्रभु ने प्रदक्षिणा दी। पश्चात् तीर्थाय नमः ऐसा कहकर श्री पार्श्वप्रभु पूर्वाभिमुख से उत्तम रत्नसिंहासन पर बिराजमान हुए। व्यंतर देवों ने अन्य तीन दिशाओं में प्रभु के प्रभाव से प्रभु के समान ही अन्य तीन प्रतिबिम्बों की विकुर्वणा की। चारों निकायों के देव, देवियाँ, नर, नारियाँ, साधु और साध्वियाँ इस प्रकार बारह पर्षदा प्रभु को नमस्कार करके यथा स्थान पर बैठी।

(गा. 297 से 304)

उस वक्त प्रभु का ऐसा वैभव देखकर वनपाल ने आकर अश्वसेन राजा को इस प्रकार कहा, हे स्वामिन! बधाई हो। श्री पार्श्वनाथ प्रभु को अभी अभी जगत् के अज्ञान को नाश करने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। महातिशय सम्पन्न ऐसे वे जगत्पति शक्रादि इन्द्रों के परिवार से परिवृत होकर दिव्य समवसरण में विराजित हैं। यह सुनकर राजा ने उसको योग्य पारितोषिक दिया, और प्रभु के दर्शन की इच्छा से त्वरित ही ये समाचार तुरन्त वामादेवी को दिये। तब अश्वसेन राजा, वामा देवी तथा अन्य परिवार को लेकर भवोदधितारक उस समवसरण में आए। हर्षपूरित मन से राजा प्रभु को प्रदक्षिणा देकर प्रणाम करके शकेन्द्र के पृष्ठभाग में बैठे। तब शकेन्द्र और अश्वसेन राजा खड़े होकर पुनः प्रभु को नमन करके मस्तक पर अंजली करके इस प्रकार स्तुति करने लगे।

(गा. 305 से 311)

'हे प्रभु! सर्वत्र भूत, भविष्य और वर्तमान काल के भाव को प्रकाशित करने वाले आपका यह केवलज्ञान जयवंता वर्तो।' इस अपार संसार रूप समुद्र में प्राणियों के लिए वाहनरूप आप हैं और निर्यामक भी आप हैं। हे जगत्पति! 'आज का यह दिन हमारे लिए सर्व दिवसों में राजा जैसा है, हमको आपके चरण दर्शन का महोत्सव प्राप्त हुआ है। यह अज्ञानरूपी अंधकार कि जो मनुष्यों की विवेकदृष्टि को लूटने वाला है, वह आपके दर्शन

रूपी औषधी के रस बिना निवृत्त होता नहीं है। यह महोत्सव नदी के नवीनरूप तुल्य प्राणियों को इस संसार में से पार उतरने के लिए एक नये तीर्थ (आरा) रूप है। अनंत चतुष्टय को सिद्ध करने वाला, सर्व अतिशयों से सुशोभित, उदासीनवृत्ति से रहने वाले, सदैव प्रसन्न ऐसे आपको नमस्कार हो। प्रत्येक जन्म में अत्यन्त उपद्रव करने वाले ऐसे दुरात्मा मेघमाली पर भी आपने करुणा की है, अतः आपकी करुणा कहाँ नहीं है? (अर्थात् सर्वत्र है) हे प्रभो! "जहाँ तहाँ स्थित और चाहे जहाँ जाते हुए हमको हमेशा आपत्ति का निवारण करने वाला ऐसे आपके चरण कमल का स्मरण होता रहे।"

(गा. 312 से 319)

इस प्रकार स्तुति करके शक्रेन्द्र और अश्वसेन राजा ने विराम लिया। तत्पश्चात् श्री पार्श्वनाथ भगवन्त ने इस प्रकार देशना दी– 'अहो! भव्य प्राणियों! जरा, रोग और मृत्यु से भरे इस संसार रूप विशाल अरण्य में धर्म के बिना अन्य कोई त्राता नहीं है, अतः वही हमेशा सेवन करने योग्य है।' वह धर्म सर्वविरति और देशविरति रूप दो प्रकार का है, उसमें अनगारी साधुओं का पहला सर्वविरति धर्म है। वह संयमादि दस प्रकार का है और आगारी गृहस्थ का दूसरा देशविरति धर्म है। वह पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार बारह प्रकार का है। यदि वह व्रत अतिचार वाले हों तो सुकृत को प्रदान नहीं करते। इन एक एक व्रत के पाँच–पाँच अतिचार हैं, वे त्यागने योग्य हैं।

(गा. 320 से 324)

पहला व्रत जो अहिंसा है, उसमें क्रोध द्वारा वध, बंध, छविच्छेद अधिक भार आरोपण, प्रहार और अन्नादि का रोध ये पाँच अतिचार हैं। दूसरा व्रत सत्य वचन– उसमें मिथ्या उपदेश, सहसा अभ्याख्यान, गुह्य भाषण, विश्वासी द्वारा कथित धर्म का भेद और कूट लेख– ये पाँच अतिचार हैं। तीसरा व्रत अस्तेय (चोरी न करना) चोर को अनुज्ञा देना, चोरी हुई वस्तु ग्रहण करना, शत्रु राज्य का उल्लंघन करना, प्रतिरूप वस्तु का भेल–संभेल करना और मान–माप, तोल खोटा करना– ये पाँच अतिचार हैं।

चौथा व्रत ब्रह्मचर्य- इसके अपरिगृहीता गमन, इत्वरपरिगृहीता गमन, परविवाहकरण, तीव्र कामभोगानुराग, और अनंगक्रीड़ा- ये पाँच अतिचार हैं। पाँचवाँ व्रत अपरिग्रह (परिग्रह का प्रमाण) उसमें धन, धान्य का प्रमाणातिक्रम, तांबा, पीतल आदि धातु का प्रमाणातिक्रम, द्विपद-चतुष्पद का प्रमाणातिक्रम, क्षेत्र वस्तु का प्रमाणातिक्रम, और रुप्य (चाँदी) सुवर्ण (सोना) का प्रमाणातिक्रम ये पाँच अतिचार हैं। ये अतिचार अनाज के छोटे-बड़े माप करने से, ताम्रादिक के भाजन छोटे बड़े करने से, द्विपद-चतुष्पद के गर्भधारण से वृद्धि होने से, घर या क्षेत्र के बीच की भींत या बाड़ निकालकर एकत्रित कर देने से और रुप्य-सुवर्ण किसी को देने से लगता है। परन्तु वह व्रत ग्रहण करने वाले को लगाने योग्य नहीं है। स्मृति न रहना, ऊपर नीचे तिरछे भाग में जाने के प्रमाण का उल्लंघन करना और क्षेत्र में वृद्धि हानि करना ये पाँच छट्ठे दिग्विरतिव्रत के अतिचार हैं। सचित्त भक्षण, सचित्त के सम्बन्ध वाले पदार्थ का भक्षण, तुच्छ औषधि का भक्षण, तथा अपक्व और दुष्पक्व वस्तु का आहार- ये पाँच अतिचार भोगोपभोग प्रमाण नामक सातवें व्रत के हैं। ये अतिचार भोजन आश्रित त्याग करने के हैं। दूसरे पन्द्रह कर्म से त्यागने रूप हैं-

(गा. 325 से 332)

उसमें खर कर्म का त्याग करना। ये खर कर्म पन्द्रह प्रकार के कर्मादान रूप हैं। वे इस प्रकार के हैं- अंगारजीविका, वनजीविका, शकटजीविका, भाटकजीविका, स्फोटजीविका, दंतवाणिज्य, लाक्षवाणिज्य, रसवाणिज्य, केशवाणिज्य, विषवाणिज्य, यंत्रपीड़ा, निर्लांछन, असतीपोषण, दवदान और सरः शोष- ये पन्द्रह प्रकार के कर्मादान कहे जाते हैं। अंगारे की भट्ठी करनी, कुंभार, लुहार तथा स्वर्णकारपन करना और चूना, ईंट पकाना, ये काम करके जो आजीविका करते हैं, ये अंगाराजीविका कहलाती है। छेदित और बिना छेदित वन के पत्र-पुष्प और फूल को लाकर बेचना, और अनाज दलना, कूटना, पीसना, खांडना आदि के द्वारा अजीविका चलाना वह वनजीविका कहलाती है। शकट अर्थात् गाड़ी, और उसके पहिये, धुरी आदि

अंग घड़ना, खेड़ना, बेचना इस रूप में जो आजीविका की जाती है वह शकटाजीविका कहलाती है। गाड़ी, बैल, पाड़े, ऊँट, खर, खच्चर, घोड़ों को किराये से देना, भार वहन करवाकर उसके द्वारा आजीविका करना, वह भाटकाजीविका कहलाती है। सरोवर तथा कुँआ आदि खोदना, शिला, पाषाण आदि घड़ना, इस प्रकार पृथ्वी संबंधी जो कोई आरम्भ करना और उसके द्वारा आजीविका करना, वह स्फोटाजीविका कहलाती है। पशुओं के दांत, केश, नख, अस्थि, त्वचा और रोम आदि के उत्पत्ति स्थान से ग्रहण करके उन त्रस अंगों का व्यापार करना वह दंतवाणिज्य कहलाता है। लाख, मनःशिला, खली, धावड़ी और टंकणखार आदि वस्तु का व्यापार करना, उस पाप के गृह रूप को लाक्षावाणिज्य कहा जाता है। मक्खन, चर्बी, मधु, मदिरा आदि का व्यापार रसवाणिज्य कहलाता है। दो पैर वाले मनुष्यादि और चार पैर वाले पशु आदि का व्यापार करना केशवाणिज्य कहलाता है। किसी भी प्रकार का जहर, किसी भी प्रकार का शस्त्र, हल, यंत्र, लोह और हरताल आदि जीवन नाशक वस्तुओं का व्यापार विषवाणिज्य कहलाता है। तिल, गन्ना, सरसों, एरंड, आदि को जलयंत्रादिक यंत्रों से पीलना, पत्तों में से तैल, इत्र, निकालकर उसका जो व्यापार करना, वह यंत्र पीड़ा कहलाता है। पशुओं के नाक बींधना, डाम देकर आंकना, मुष्कच्छेद (खस्सी करना) पृष्ठ भाग को गलाना एवं कान आदि अंग बींधना, वह नीलांछन कर्म कहलाता है। द्रव्य के लिए मैना, पोपट (तोता) मार्जार (बिल्ली), कुत्ते, मुर्गे एवं मोर आदि पक्षियों को पालना, पोसना और दासियों का पोषण करना वह असतीपोषण कहलाता है। व्यसन से अथवा पुण्यबुद्धि से इस प्रकार दो प्रकार से दावानल देना, वह दवदान कहलाता है। सरोवर, नदी तथा द्रहों आदि के जल का शोषण करने का उपाय करना वह सरःशोष कहलाता है। इस प्रकार पन्द्रह कर्मादान समझना और उनका त्याग करना चाहिए।

(गा. 333 से 348)

संयुक्त अधिकरणता, उपभोग अतिरिक्तता, अतिवाचालता, कौकुची और कंदर्पचेष्टा ये पाँच अनर्थदण्ड–विरमण नाम के आठवें व्रत के अतिचार

हैं। मन, वचन और काया से दुष्ट प्रणिधान, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन- ये सामायिक नामक नवम व्रत के पाँच अतिचार हैं। प्रेष्य प्रयोग, आनयन प्रयोग, पुद्गल का प्रक्षेप, शब्दानुपात और रुपानुपात- ये पाँच देशावगासिक व्रत के अतिचार हैं। संथारादि अच्छी तरह देखें बिना या प्रमार्जन बिना लेना या रखना, अनादर और स्मृति का न रहना ये पाँच पौषध व्रत के अतिचार हैं। सचित्त के ऊपर रखना, सचित्त वस्तु से ढँकना, काल की स्थापना का उल्लंघन करके आमंत्रण देना, मत्सर रखना और व्यपदेश करना ये पाँच अतिथि संविभाग व्रत के अतिचार हैं। इस प्रकार अतिचारों से रहित व्रत का पालन करने वाला श्रावक भी शुद्धात्मा होकर अनुक्रम से भवबंधन से मुक्त हो सकता है।

(गा. 349 से 354)

इस प्रकार प्रभु की देशना श्रवण करके अनेकों ने दीक्षा ली और अनेक श्रावक हुए। अर्हन्त की वाणी कभी भी निष्फल नहीं जाती। मनस्वी अश्वसेन राजा ने भी प्रतिबद्ध होकर तत्काल ही अपने लघु पुत्र हस्तिसेन को राज्य सौंपकर, दीक्षा अंगीकार की। वामादेवी और प्रभावती ने भी प्रभु की देशना से विरक्त होकर मोक्षसाधन कराने वाली दीक्षा ली। प्रभु के आर्यदत्त आदि दस गणधर हुए। प्रभु ने उनको स्थिति, उत्पाद और व्ययरूप त्रिपदी का श्रवण कराया। उस त्रिपदी के श्रवण मात्र से उन्होंने सद्य द्वादशांगी की रचना की। बुद्धिमान को दिया उपदेश जल में तेल के बिन्दु के समान प्रसर जाता है। प्रथम पौरुषी पूर्ण होने पर प्रभु की देशना समाप्त हुई। दूसरी पौरुषी में आर्यदत्त गणधर ने देशना दी। तत्पश्चात् शक्रेन्द्र आदि देवगण और मनुष्य प्रभु को नमन करके देशना को स्मरण करते करते अपने अपने स्थान पर चले गये।

(गा. 355 से 361)

पार्श्वनाथ प्रभु के तीर्थ में कछुए के वाहन वाले, कृष्ण वर्ण वाले, हस्ति जैसे मुखवाले, नागफणों के छत्र से शोभते, चार भुजा वाले, दो वाम भुजा में नकुल और सर्प तथा दो दक्षिण दिशा में बीजोरा और सर्प धारण

करने वाले पार्श्व नामक यक्ष शासन देवता हुए, कुर्कट जाति के सर्प के वाहन वाली, सुवर्ण सम वर्णवाली, दो दक्षिण दिशा में पद्म और पाश तथा दो वाम भुजा में फल और अंकुश धारण करने वाली पद्मावती नाम की यक्षणी शासन देवी हुई। ये दोनों शासन देवता जिनके पास निरन्तर रहते हैं और अन्य भी अनेक देव और मनुष्य विनीत होकर जिनकी सेवा किया करते हैं, ऐसे पार्श्व प्रभु पृथ्वी पर विहार करने लगे।

(गा. 362 से 366)

सर्ग – 4
श्री पार्श्वनाथ प्रभु का विहार और निर्वाण

सर्व विश्व के अनुग्रह के लिए विहार करते हुए पार्श्वप्रभु एक वक्त संसार में पुंड्र (तिलक) जैसे पुंड्र नाम के देश में आए। उस अरसे में पूर्व देश में ताम्रलिप्ति नगरी में सागरदत्त नाम का एक कलाज्ञ और सद्बुद्धिमान युवा वणिक् पुत्र रहता था। उसे जातिस्मरण ज्ञान होने से वह सर्वदा स्त्री जाति से विरक्त था। वह स्वरूपवती स्त्री से भी विवाह करना चाहता नहीं था। वह पूर्वजन्म में एक ब्राह्मण पुत्र था। उस भव में किसी अन्य पुरुष से आसक्त हुई उसकी पत्नि ने उसे जहर देकर, संज्ञा रहित करके किसी स्थान पर छोड़ दिया। वहाँ एक गोकुली स्त्री ने उसे जीवन दान दिया। पश्चात् वह परिव्राजक हो गया। वहाँ से मरकर वह इस भव में वह सागरदत्त नाम का श्रेष्ठीपुत्र हुआ था। परन्तु पूर्वजन्म की स्मृति से वह स्त्रियों से विमुख था। (गा. 1 से 5)

वह लोकधर्म में तत्पर गोकुली स्त्री भी मरकर अनुक्रम से उसी नगरी में एक वणिक् पुत्री हुई। 'इस स्त्री में इसकी दृष्टि रमण करेगी' ऐसी संभावना करके बंधुजनों ने उसे सागरदत्त के लिए पसंद किया और गौरव सहित उसे प्राप्त भी किया। परन्तु सागरदत्त का मन उस पर विश्रांत नहीं हुआ। कारण कि पूर्व के अभ्यास से वह स्त्रियों को यमदूती जैसी मानता था। बुद्धिमान् वणिक्पुत्री ने विचार किया कि 'इससे पूर्व भव का कुछ स्मरण हुआ लगता है, और उस जन्म में किसी पुश्चली स्त्री ने इस पुरुष को हैरान

किया लगता है।' ऐसा हृदय में विचार करके उसे समझाने का अवसर जानकर उसने एक पत्र में श्लोक लिखकर भेजा। उस श्लोक का भावार्थ इस प्रकार था– दूध से जले पुरुष को दही का त्याग करना घटित नहीं होता, क्योंकि अल्पजल में संभवित पोरवे क्या दूध में भी होते हैं?'' इस श्लोक को पढ़कर उसका भावार्थ हृदय में विचार करके सागरदत्त ने भी एक श्लोक लिखकर भेजा। उसका भावार्थ इस प्रकार था– स्त्री कुपात्र में रमती है, सरिता निम्न स्थान में जाती है, मेघ पर्वत पर वर्षता है और लक्ष्मी निर्गुण पुरुष का आश्रय करती है।

(गा. 6 से 12)

वणिक् सुता ने यह श्लोक पढ़ा और उसका भावार्थ जान लिया। पुनः उसने उसको बोध देने के लिए दूसरा श्लोक लिखकर भेजा। उसका भावार्थ था– 'क्या कोई स्त्री दोष रहित नहीं होती? यदि होती है, तो रागी स्त्री को क्या देखकर त्याग करना? रवि अपने पर अनुरक्त हुई संध्या को कभी भी छोड़ता नहीं है।' इस श्लोक का वांचन करके उसके ऐसे चतुराई भरे संदेशों से रंजित हुआ सागरदत्त ने उसके साथ विवाह किया और हर्षयुक्त चित्त से प्रतिदिन उसके साथ भोग भोगने लगा।

(गा. 13 से 16)

एक वक्त सागरदत्त का श्वसुर पुत्र सहित व्यापार के लिए पाटलापथ नगर में गया। यहाँ सागरदत्त भी व्यापार करने लगा। अन्यदा वह विशाल जहाज भरकर समुद्र पार तीर पर गया। सात बार उसका जहाज समुद्र में भंग (टूट) गया, इससे 'यह पुण्य रहित है' ऐसा कहकर लोग उस पर हंसने लगे। वह वापिस आया, परन्तु निर्धन हो जाने पर भी उसने उद्यम करना नहीं छोड़ा। एक बार इधर–उधर घूमते समय एक लड़का कुए में से पानी निकालते हुए उसे दिखाई दिया। उस लड़के से सात बार तो पानी आया नहीं, परन्तु आठवीं बार पानी आ गया। यह देख सागरदत्त ने विचार किया कि 'मनुष्यों को उद्यम अवश्य ही फलदायक है। जो अनेक विघ्न आने पर भी अस्खलित उत्साह वाले होकर प्रारंभ किया हुआ कार्य छोड़ते नहीं

है, उनको दैव भी विघ्न डालने में शंका करते हैं। इस प्रकार विचार करके शुकनग्रंथी बांधकर जहाज लेकर सिंहल द्वीप की ओर चल दिया। परन्तु पवन के योग से वह रत्नद्वीप आया। वहाँ उसने सब माल बेचकर रत्नों का समूह खरीद लिया। उसने उन रत्नों से जहाज भर लिया और अपनी नगरी की ओर चल दिया। उन रत्नों से लुब्ध हुए खलासियों ने उसे रात को समुद्र में डाल दिया। दैवयोग से पहले टूटा हुआ किसी जहाज का पाटियाँ अर्थात् तख्ता उसके हाथ में आने से वह समुद्र को पार कर गया। वहाँ किनारे पर पाटलापाथ नगर था। उस नगर में प्रवेश करते समय उसके श्वसुर ने उसको देखा। अतः वे उसे अपने आवास में ले आए। तत्पश्चात् स्नान, भोजन आदि से निवृत्त हो जाने पर मूल से लेकर खलासी संबंधित सर्व वृतांत अपने श्वसुर से कहा। तब ससुर ने कहा कि 'हे जंवाई राजा! आप यहाँ पर ही रहें। वे दुबुर्द्धि वाले खलासी तुम्हारे बंधुजनों की शंका से ताम्रलिप्ती नगर में नहीं जायेंगे, लगभग वे यहीं पर आवेंगे। सागरदत्त ने यह स्वीकार किया। उसके श्वसुर ने सर्व हकीकत वहाँ के राजा से निवेदन किया। 'दीर्घदृष्टा पुरुषों का यही न्याय है।'

(गा. 17 से 29)

दिनों के पश्चात् वह जहाज वहाँ पर आया। तब सागरदत्त से जिन्होंने सर्व चिह्न जान लिये थे, वे राज्य के आरक्षक पुरुषों ने उसे पहचान लिया। पश्चात् उन्होंने सर्व खलासियों को पृथक्–पृथक् बुलाकर पूछा कि 'इस जहाज का मालिक कौन है? इसमें क्या क्या किराना है। वह कितना–कितना है। इस प्रकार उलट पुलट कर पूछताछ करने पर वे सब क्षुब्ध होकर अलग अलग बात करने लगे। इससे उन्होंने उनको दगा देने वाले जानकर उन आरक्षकों ने तत्काल ही सागरदत्त को वहाँ बुलाया। सागरदत्त को देखते ही वे भयभीत होकर बोले कि 'हे प्रभु! हम कर्मचांडालों ने तो महादुष्कर्म किया था, तथापि तुम्हारे प्रबल पुण्य से ही तुम अक्षत रहे हो। हम आपके वंध्य कोटि को प्राप्त हुए हैं, इसलिए आप स्वामी को जो योग्य लगे वह करें। कृपालु और शुद्ध बुद्धि वाले सागरदत्त ने राजपुरुषों से उनको छुड़ाया और कुछ पाथेय देकर उनको विदा किया। उसके इस कृपालु भाव से 'यह

पुण्यवान् है' ऐसा करने पर वह महामति सागरदत्त राजा का अत्यन्त प्रिय हो गया। जहाज का किराना आदि बेचकर उसने बहुत बहुत सा द्रव्य उपार्जन किया। उसके बाद बहुत सा दान आदि देकर वह धर्म करने की इच्छा से धर्मतीर्थकों (धर्माचार्यों) से पूछने लगा कि 'जो देवों के भी देव हों, उनको रत्नमय करने की मेरी इच्छा है। अतः वे मुझे बताओ।' देवतत्त्व तक नहीं पहुँचे हुए उन धर्माचार्यों ने जो उसे कहा, वह उसे योग्य नहीं लगा। तब उनमें से किसी आप्तपुरुष ने कहा कि 'हम जैसे मुग्ध पुरुषों को यह बात क्या पूछते हो? यदि तुमको जानना ही हो तो एक रत्न का अनुसरण करके तपस्या करो, तो उसका जो अधिष्ठायक देव होगा, वह आकर तुमको जो खरे देवाधिदेव होंगें वे बतावेंगे। तब सागरदत्त ने उस प्रकार अट्ठम तप किया। तब रत्न के अधिष्ठायक देव ने आकर उसे तीर्थंकर की पवित्र प्रतिमा बताकर कहा कि 'हे भद्र! ये देव ही परमार्थ से सत्य देव हैं। इनका स्वरूप मुनि गण ही जानते हैं। अन्य कोई जानते नहीं है। यह कहकर मूर्ति देकर वह देव अपने स्थान पर चला गया। सागरदत्त उस प्रतिमा को देखकर बहुत खुश हुआ। वह सुवर्णवर्णी अर्हन्त प्रतिमा उसने साधुओं को बताई। तब साधुओं ने उसे जिनेन्द्र प्ररुपित धर्म का उपदेश दिया, तब सागरदत्त श्रावक हो गया।

(गा. 30 से 41)

एक बार सागरदत्त ने मुनियों से पूछा कि– हे भगवन्! ये कौन से तीर्थंकर की प्रतिमा है? और मुझे इसकी किस विधि से प्रतिष्ठा करनी, कृपा करके यह मुझे बताईये। मुनियों ने उसे कहा– 'अभी पुंड्रवर्धन देशों में श्री पार्श्वनाथ प्रभु समवसरे हैं। अतः उनके पास जाकर वह सारी बात पूछो। तब सागरदत्त शीघ्र ही श्री पार्श्वनाथ प्रभु जी के पास गया एवं नमस्कार करके उस रत्नप्रतिमा के विषय में सर्व हकीकत पूछी। प्रभु ने अपने समवसरण को उद्देश्य करके सर्व अर्हन्तों के अतिशय संबंधी और तीर्थंकरों की प्रतिमा की स्थापना संबंधी सर्व हकीकत का वर्णन किया। तत्पश्चात् जिनोक्त विधि द्वारा उस तीर्थंकर की प्रतिमा की उसने प्रतिष्ठा कराई। किसी

समय उस सागरदत्त ने पार्श्वप्रभु के पास दीक्षा ली। पश्चात् सुर असुरों से सेवित और सर्व अतिशयों से सम्पूर्ण प्रभु ने अपने परिवार के साथ अन्यत्र विहार कर दिया।

(गा. 42 से 49)

नागेन्द्र की भांति नागपुरी नगरी में यशस्वियों में अग्रणी सूरतेज नाम का राजा था। उस नगरी में धनपति नामक एक धनाढ्य श्रेष्ठी रहता था, जो कि राजा को बहुत प्रिय था। उसके सुन्दरी नामक शीलवती सुन्दर स्त्री थी। पितामह के नाम वाला बंधुदत्त नामक एक विनीत और गुणवान् पुत्र था, अनुक्रम से वह युवावस्था को प्राप्त हुआ।

(गा. 50 से 52)

उस समय वत्स नामक विजय में कौशांबी नगरी में शत्रुओं का मानभंग करने वाला मानभंग नाम का राजा राज्य करता था। उस नगरी में जिनधर्म में तत्पर जिनदत्त नाम का एक धनाढ्य श्रेष्ठी रहता था। उसके वसुमति नाम की स्त्री थी। उनके प्रियदर्शना नाम की पुत्री हुई। अंगद नाम के विद्याधर की पुत्री मृगांकलेखा नाम की उसकी सखी थी, जो कि जैनधर्म में लीन थी। ये दोनों ही सखियाँ देवपूजा, गुरु की उपासना, और धर्माख्यान आदि कृत्यों में अपना समय निर्गमन करती थी। एक समय कोई साधु गोचरी जा रहे थे। उन्होंने प्रियदर्शना को उद्देश्य करके कहा कि 'यह महात्मा स्त्री पुत्र को जन्म देकर दीक्षा लेगी। यह सुनकर मृगांकलेखा अत्यन्त हर्षित हुई। परन्तु उसने यह बात किसी से भी कही नहीं।

(गा. 53 से 55)

किसी समय धनपति श्रेष्ठी ने अपने पुत्र के लिए नागपुरी में ही निवास करने वाला वसुनंद नाम के श्रेष्ठी की चन्द्रलेखा नाम की कन्या की मांग की। उसने अपनी पुत्री उस श्रेष्ठीपुत्र को दी। पश्चात् एक शुभ दिन में महा उत्सव से बंधुदत्त और चन्द्रलेखा का विवाह हुआ। दूसरे ही दिन अभी जिसका हाथ मंगलकंकण से ही अंकित हुआ, ऐसी उस चन्द्रलेखा को रात्रि में सर्प ने आकर डसा, फलस्वरूप तत्काल ही उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार 'कर्म

के परिणाम से अभागी पुरुष का विवाह के पश्चात् दूसरे ही दिन उसकी स्त्री मर जाती है।' इस बनाव के पश्चात् बंधुदत्त का हाथ विषमय है ऐसा उसके सिर पर अपवाद (कलंक) आ गया। उसके बाद उसने अनेक कन्याओं की मांग की और विपुल द्रव्य देने पर भी उसे दूसरी स्त्री प्राप्त नहीं हुई। इस प्रकार स्त्री रहित होने पर स्त्री के बिना यह संपत्ति मेरे किस काम की? ऐसी चिन्ता करते हुए बंधुदत्त कृष्ण पक्ष के चन्द्र के समान दिन पर दिन क्षीण होने लगा। उसे दुर्बल हुआ देखकर, दुःखी हुआ धनपति सेठ ने विचार किया कि 'मेरा पुत्र इस चिन्ता में ही मर जाएगा।' इस दुःख के विस्मरण हेतु इसे किसी व्यापार में लगा दूं। ऐसा निर्णय करके धनपति श्रेष्ठी ने बंधुदत्त को बुलाया और उसे आज्ञा दी कि 'हे वत्स! तू व्यापार करने के लिए सिंहलद्वीप या अन्य किसी द्वीप में जा। पिताजी की आज्ञा से बंधुदत्त बहुत सा किराना लेकर जहाज पर चढ़कर समुद्र का उल्लंघन करके सिंहलद्वीप आया। किनारे पर उतरकर सिंहलपति के पास जाकर उत्तम उपहार देकर उनको प्रसन्न किया तो सिंहलराज ने उसका कर माफ कर दिया एवं प्रसन्न होकर उसे विदा किया। वहाँ सर्व किराना बेचकर मन मुताबिक लाभ प्राप्त करके, वहाँ से दूसरा किराना खरीदकर अपने नगर की ओर चला। समुद्रमार्ग से चलते हुए अनुक्रम से वह अपने देश के नजदीक आ गया। किन्तु उसी समय प्रतिकूल पवन में डोलता हुआ उसका जहाज टूट गया। परन्तु अनुकूल दैव योग से उसके हाथ में काष्ट का तख्ता आ गया। उसके सहारे तिरता हुआ बंधुदत्त समुद्र तट के आभूषण रूप रत्नद्वीप में आ पहुँचा। वहाँ एक वापिका में उतरकर स्नान करके वह एक आम्रफल के वन में गया। वहाँ क्षुधारूप रोग के औषध रूप उसने स्वादिष्ट आम्रफलों का भोजन किया।

(गा. 56 से 72)

इस प्रकार मार्ग में वनफलों का आहार करता हुआ वह बंधुदत्त अनुक्रम से रत्नपर्वत के पास आया और वह पर्वत के ऊपर चढ़ा। वहाँ एक रत्नमय चैत्य उसे दिखाई दिया। तब उसने उस चैत्य में प्रवेश किया। वहाँ स्थित श्री अरिष्टनेमि प्रभु की प्रतिमा को वंदना की। वहाँ कितने ही महामुनि भी थे, उनको भी उसने वंदना की। सर्व में जो ज्येष्ठ मुनि थे उन्होंने

उसे पूछा, तब बंधुदत्त ने स्त्री का मरण और जहाज का टूटना इत्यादि सर्व वृत्तान्त अथ से इति तक कह सुनाया। पश्चात् मुनिवर ने उसको प्रतिबोध दिया। तब उसने अपना यहाँ आ जाना सफल माना। इस प्रकार अनुमोदन करते हुए बंधुदत्त ने जैन धर्म को स्वीकार किया। उस समय वहाँ स्थित चित्रांगद विद्याधर ने उसे कहा कि जैन धर्म के स्वीकार ने से अब तुम मेरे साधर्मिक हुए, यह बहुत अच्छा हुआ। अब कहो तो मैं तुमको आकाशगामिनी विद्या दूँ। कहो तो तुमको इष्ट स्थान पर पहुँचा दूँ। अथवा कहो तो कोई कन्या से परणा दूँ। बंधुदत्त ने कहा कि 'जो तुम्हारे पास विद्या है, वह मेरी ही है और जहाँ ऐसे गुरु के दर्शन होते हैं, वह स्थान ही मुझे इष्ट है। ऐसा कह उसने मौन धारण कर लिया। तब विद्याधर ने सोचा कि 'अवश्य ही यह बंधुदत्त कन्या को चाहता है। क्योंकि उसने इस बात का निषेध किया नहीं है। परन्तु जो कन्या इससे विवाह (परणने) के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त न करे, वैसी कन्या को इस महात्मा को दूँ। ऐसा निश्चय करके वह बंधुदत्त को अपने साथ में ले गया और उचित स्नान भोजनादि द्वारा उसकी भक्ति की। पश्चात् चित्रांगद ने अपने सर्व खेचरों को पूछा कि 'भारतवर्ष में तुमने ऐसी कोई कन्या देखी है, जो इस पुरुष के योग्य है?' यह सुनकर उसके भाई अंगद विद्याधर की पुत्री मृगांकलेखा बोली कि 'हे पिताजी! क्या आप मेरी सखी प्रियदर्शना को नहीं जानते?' वह मेरी सखी कौशांबीपुरी में रहती है, स्त्रीरत्न जैसी रूपवती है और जिनदत्त सेठ की पुत्री है। मैं पूर्व में उसके पास गई थी, उस वक्त किसी मुनि ने उसे उपदेश स्वरूप कहा था, कि 'यह प्रियदर्शना पुत्र को जन्म देकर दीक्षा लेगी यह बात मैंने भी सुनी थी। यह हकीकत सुनकर चित्रांगद ने बंधुदत्त के योग्य प्रियदर्शना को उसे देने के लिए अमितगति आदि खेचरों को आज्ञा दी। तब वे खेचर बंधुदत्त को लेकर कौशांबी नगरी में गये। वहाँ नगर के बाहर पार्श्वनाथ चैत्य से विभूषित उद्यान में निवास किया। पश्चात् बंधुदत्त ने खेचरों के साथ चैत्य में प्रवेश किया। वहाँ पार्श्वनाथ प्रभु को और मुनिभगवन्तों को उसने वंदना की एवं उनके पास धर्मदेशना सुनी। इतने में वहाँ साधर्मी प्रिय जिनदत्त श्रेष्ठी आया। वह सर्व खेचर सहित बंधुदत्त को प्रार्थना करके अपने घर ले गया। पश्चात्

जिनदत्त सेठ ने बंधुदत्त और खेचरों को गौरवता से स्नान, आसनादि द्वारा सत्कार करके उनके आगमन का कारण पूछा। तब 'यह काम ही प्रयोजन है, परन्तु जिस काम का यह प्रयोजन है, वह अनृत (असत्य) कहना पड़े, वैसा है। ऐसा विचार करके वे इस प्रकार बोले 'हम तीर्थयात्रा की धारणा करके रत्नपर्वत से निकले हैं। प्रथम तो हम उज्जयन्त गये, वहाँ हमने श्री नेमिनाथ प्रभु को वन्दना की।' वहाँ इस बंधुदत्त श्रेष्ठी ने हमको साधर्मिक जानकर अपने बंधु के समान भोजनादि के द्वारा हमारी भक्ति की। यह बंधुदत्त धार्मिक, उदार, साथ ही वैराग्यवान् है। इससे हमारी इसके साथ और अधिक प्रीति हो गई। यहाँ पार्श्वनाथ प्रभु को वंदन करने के लिए हम उज्जयंत (गिरनार) गिरि से आए हैं। यह बंधुदत्त भी हमारे स्नेह से निमंत्रित होकर हमारे साथ आया है। खेचरों के इस प्रकार के वचन सुनकर और बंधुदत्त को नजरों से देखकर जिनदत्त सेठ ने सोचा कि 'यह वर मेरी पुत्री के योग्य है। तब जिनदत्त सेठ ने आग्रह से उन खेचरों को वहाँ रोका एवं बंधुदत्त को कहा कि 'मेरी पुत्री के साथ विवाह करो। बंधुदत्त ने पहले तो विवाह करने की अनिच्छा का नाटक करके पश्चात् यह बात स्वीकारी। ये समाचार अमितगति ने चित्रांगद को पहुँचाये, तो चित्रांगद जानकर वहाँ आया। तब जिनदत्त ने बंधुदत्त के साथ अपनी पुत्री का विवाह किया। चित्रांगद बंधुदत्त को शिक्षा देकर अपने स्थान पर चला गया।

(गा. 73 से 100)

बंधुदत्त प्रियदर्शना के साथ क्रीड़ा करता हुआ वहीं पर ही रहा। उसने वहाँ श्री पार्श्वनाथ प्रभु की रथयात्रा कराई। इस प्रकार धर्म में तत्पर होकर उसने वहाँ चार वर्ष निर्गमन किये। कितना ही काल व्यतीत होने पर प्रियदर्शना ने गर्भ धारण किया। उस समय उसने स्वप्न में मुखकमल में प्रवेश करते हुए एक हाथी को देखा। दूसरे दिन बंधुदत्त ने अपने स्थान की तरफ जाने का विचार अपनी पत्नी को बताया। उसने अपने पिता जिनदत्त को बताया। इसलिए सेठ ने विपुल संपत्ति देकर बंधुदत्त को प्रिया के साथ विदा किया। बंधुदत्त ने 'मैं नागपुरी जाऊँगा' ऐसी अघोषणा कराई। तब अनेक लोग उसके साथ चल दिये। उन सबको बंधु के समान मानकर उनको आगे

किया। सन्मार्ग के महापंथ तुल्य बंधुदत्त शनैः शनैः चलता हुआ अनुक्रम से अनर्थ के एक गृहरूप पद्म नाम की अटवी में आया। सार्थ की रक्षा करते करते उसने तीन दिन में उस अटवी का उल्लंघन किया और एक सरोवर के तीर पर आकर पड़ाव डाला। वहाँ सार्थ ने रात्रिवास किया। उस रात्रि के अंतिम प्रहर में चंडसेन नामक एक पल्लिपति ने धाड़ पाड़ी। पल्लिपति के सुभटों ने सार्थ का सर्वस्व लूटकर, प्रियदर्शना का भी हरण करके अपने स्वामी चंडसेन को सौंपी। दीनमुखवाली प्रियदर्शना को देखकर चंडसेन को दया आ गई। उसने सोचा कि 'इस दीन स्त्री को पुनः इसके स्थान पर पहुँचा दूँ।' ऐसी चिन्ता करते हुए उसने चूतलता नामकी प्रियदर्शना की दासी को पूछा कि 'यह स्त्री किसकी प्रिया है और किसकी पुत्री है?' यह वृतांत मुझे बता। दासी बोली कि 'यह कौशांबी के निवासी जिनदत्त सेठ की पुत्री है और उसका नाम का प्रियदर्शना है। इतना सुनते ही चंडसेन को मूर्छा आ गई।' थोड़ी देर में संज्ञा आने पर उसने प्रियदर्शना को कहा कि 'हे बाला! तेरे पिता ने मुझे पूर्व में जीवितदान दिया था। अतः तू भयभीत मत हो। तू मेरा वृतांत सुन।' मैं चोरों का राजा नाम से प्रख्यात हूँ । एक बार मैं चोरी करने को निकला। प्रदोष काल में वत्सदेश के गिरि नाम के गांव में गया। वहाँ चोर लोगों के साथ मैं मद्यपान करने बैठा। इतने में रक्षकों ने आकर मुझे पकड़ लिया एवं वहाँ के राजा मानभंग के पास मुझे उपस्थित किया। उन्होंने मुझे मार डालने का आदेश दिया। मुझे जब मारने को ले जा रहे थे, उस समय तुम्हारे माता–पिता पौषध करके पारणे के लिए घर जा रहे थे, वे वहाँ से पसार हुए। मेरी हकीकत सुनकर उस कृपालु सेठ ने मुझे छुड़ाया। पश्चात् विपुल वस्त्र–धनादि देकर मुझे विदा किया। इसलिए तू मेरे उपकारी की पुत्री है। मुझे आज्ञा दे कि मैं तेरा क्या काम करूँ? तब प्रियदर्शना बोली कि 'हे भ्राता! तुम्हारी धाड़ पड़ने से वियुक्त हुए मेरे पति बंधुदत्त के साथ मेरा मिलाप करवा दो।' मैं ऐसा ही करुँगा। ऐसा कहकर पल्लिवति प्रियदर्शना को लेकर अपने घर आया और जैसे अपने देवता न हो, वैसे अति भक्ति से उसे देखने लगा। बाद में अभयदान द्वारा प्रियदर्शना को आश्वासन देकर चंडसेन स्वयं बंधुदत्त की शोध में निकल पड़ा।

(गा. 101 से 121)

इधर बंधुदत्त प्रिया का वियोग होने पर हिंतालवन के मध्य में आकर स्वस्थ होकर इस प्रकार चिन्तन करने लगा कि मेरे वियोग से मेरी विशाललोचन प्रिया एक दिन भी जी नहीं सकेगी, वह अवश्य ही मरण शरण हो जाएगी। तो अब मैं किस प्रत्याशा से जीऊँ? अतः मुझे भी मरण का ही शरण हो, क्योंकि उससे मुझे कोई विशेष हानि नहीं है। ऐसा विचार करके वह सप्तछन्द के बड़े वृक्ष के ऊपर चढ़कर फांसी लगाकर मरने को तैयार हुआ। सप्त छंद के वृक्ष के पास आते समय उसे वहाँ एक विशाल सरोवर दिखाई दिया। उसमें प्रिया के विरह से दुःखित ऐसा एक राजहंस उसे दिखाई दिया। अपने समान उसे भी दुःखी और दीन देखकर वह अपार दुःखी हुआ, क्योंकि दुःखी जन की मानसिक पीड़ा को दुःखी जन ही जानते हैं। बंधुदत्त वहाँ थोड़ी देर खड़ा रहा। इतने में कमल की छाया में बैठी राजहंसी के साथ उसका मिलाप हुआ। उसका इस प्रकार मिलाप हुआ देखकर बंधुदत्त ने सोचा कि 'जीवित नर को पुनः प्रिया के साथ संगम हो सकता है। इसलिए अभी तो मैं अपनी नगरी में जाऊँ। परन्तु मेरी ऐसी निर्धन स्थिति में वहाँ भी किस प्रकार जाऊँ? वैसे ही प्रिया के बिना कौशांबी नगरी में भी जाना योग्य नहीं है। इससे तो अभी विशालापुरी में ही जाऊँ। वहाँ मामा के पास से द्रव्य लेकर, उस चोर सेनापति को देकर मेरी प्रिया को छुड़ा लाऊँगा। पश्चात् प्रिया को साथ लेकर नागपुरी जाकर मामा का द्रव्य वापिस लौटा दूँ। सर्व उपायों में यह उपाय ही मुख्य है। ऐसा विचार करके वह बंधुदत्त पूर्व दिशा की ओर चला। दूसरे दिन अति दुःखित स्थिति में वह गिरिस्थल नामक स्थल में आया। वहाँ मार्ग के नजदीक में वृक्षों से ढके हुए एक यक्ष के मंदिर में उसने विश्राम किया। इतने में श्रम से पीड़ित एक राहगीर भी वहाँ आया। उसे बंधुदत्त ने पूछा कि 'तुम कहाँ से आ रहे हो? उसने कहा कि मैं विशालापुरी से आ रहा हूँ। तब बंधुदत्त ने पूछा कि 'वहाँ धनदत्त सार्थवाह कुशल है ना?' तब उस मुसाफिर ने दीन वचनों से कहा कि 'धनदत्त व्यापार करने दूसरे गाँव गया था', इतने में उसका बड़ा पुत्र घर में पत्नी के साथ क्रीड़ा कर रहा था, कि वहाँ से पसार होते हुए उसने वहाँ के राजा की अवगणना की। उस अपराध से क्रोधित हुए

राजा ने उसका सर्वस्व लूट लिया, और उसके पुत्र, कलत्र, आदि सर्व कुटुम्ब को कैद कर लिया। धनदत्त घर आया, तब राजा को अर्ज करने पर और अपने पास रहा द्रव्य दंडस्वरूप देने पर और शेष रहे कोटि द्रव्य के लिए वह अपनी बहन के पुत्र बंधुदत्त को शोध में निकला है। राजा ने इसी शर्त से उनको छोड़ा है। इस प्रकार सर्व हकीकत सुनकर बंधुदत्त ने सोचा कि अहो दैव ने यह क्या किया? जिससे मुझे पूर्ण आशा थी, उसे ही दैव ने व्यसनसमुद्र में धकेल दिया। परन्तु अब तो जो हुआ सो ठीक। अब तो यहाँ रहकर ही मामा की राह देखूं एवं उनसे मिलकर नागपुरी जाकर उनका अर्थ शीघ्र सिद्ध कर दूँ। ऐसा विचार करके वह वहीं पर रहा।

(गा. 122 से 141)

पाँचवें दिन कई जनों की सहायता लेकर सार्थ के साथ खेदयुक्त मनवाला मामा धनदत्त वहाँ आया एवं उसी वन में यक्षमंदिर के समीप एक तमाल वृक्ष के नीचे बैठा। दूर से पहचानने में न आने पर बंधुदत्त उसे पहचानने के लिए समीप में जाकर उनसे पूछा कि 'आप कौन है?' यहाँ कहाँ से आये हो? और कहाँ जाना है? वह कहो। धनदत्त बोला– 'हे सुन्दर! मैं विशालापुरी से आ रहा हूँ और यहाँ से महापुरी नागपुरी जा रहा हूँ। 'बंधुदत्त बोला कि मुझे भी वहाँ ही जाना है। परन्तु वहाँ तुम्हारा संबंधी कौन है? वह बोला कि 'वहाँ बंधुदत्त नाम का मेरा भगिनेय (भानजा) है। बंधुदत्त ने कहा– हाँ, वह मेरा भी मित्र है। तब बंधुदत्त ने अपने मामा को पहचाना। परन्तु अपना परिचय दिये बिना वह उनके साथ हो लिया। पश्चात् उन दोनों ने साथ में भोजन किया। दूसरे दिन प्रातः काल बंधुदत्त शौच हेतु नदी के तीर पर गया। वहाँ एक कदम्ब के गह्वर में रत्न की छायाकली पृथ्वी दिखाई दी। तब उसने तीष्ण शृंग द्वारा वह पृथ्वी खोदी। उसमें से रत्न आभूषणों से परिपूर्ण एक तांबे का करंडक निकला। वह करंडक गुप्त रीति से लेकर बंधुदत्त धनदत्त के पास आया। और करंडक मिलने की सर्व हकीकत कह सुनाई। पश्चात् नम्रता से कहा कि, 'हे मेरे मित्र के मामा! मैंने एक पथिक से आपका सर्व वृत्तांत जान लिया है।' अतः आपके पुण्य से प्राप्त यह करंडक आप ही रखो। हम दोनों यहाँ से विशाला नगरी में जाकर धन देकर कारागृह

में से अपने व्यक्तियों को छुड़ा दें। पश्चात् हम नागपुरी जायेंगे। ऐसा कह बंधुदत्त वह करंडक उनके आगे रखकर मौन रहा। तब धनदत्त बोला कि, मुझे अभी तुरन्त मेरे व्यक्तियों को छुड़ाने की कोई जल्दी नहीं है। अभी तो मुझे तुम्हारे मित्र बंधुदत्त को मिलना है। पश्चात् जैसा वह कहेगा, वैसा करूँगा। बंधुदत्त ने अपने को प्रकट करते हुए कहा कि वह स्वयं बंधुदत्त है। तब उसे पहचान कर धनदत्त बोला कि अरे! तू ऐसी दशा को कैसे प्राप्त हुआ? तब बंधुदत्त ने अपनी सर्व हकीकत कह सुनाई। यह सुनकर धनदत्त ने कहा कि, हे वत्स! पहले हम भील लोगों के पास से प्रियदर्शना को छुड़ा लें, पश्चात् दूसरा काम करेंगे।

(गा. 142 से 157)

इस प्रकार दोनों बात कर ही रहे थे कि इतने में अचानक राजा के सुभट हथियार उठाते हुए वहाँ आ पहुँचे। वे जहाँ रहे हुए थे, उनको तस्कर जानकर पकड़ लिया। धनदत्त और बंधुदत्त उस करंडक को गुप्त स्थान पर रख ही रहे थे कि इतने में ही उनको उन राजपुरुषों ने पकड़ लिया और 'यह क्या है?' यह पूछा। तब उन्होंने कहा कि 'तुम्हारे भय से ही हम इसे छिपा रहे थे।' पश्चात् राजसुभटों ने उस करंडक सहित उनको तथा अन्य मुसाफिरों को राजभय बताते हुए न्यायकारके राजमंत्री के पास ले गये। न्यायमंत्री ने परीक्षा करके अन्य मुसाफिरों को तो निर्दोष जानकर छोड़ दिया। पश्चात् इन मामा भाणजे को आदर सहित पूछा कि 'तुम कौन हो? कहाँ से आ रहे हो? और यह क्या है? वे बोले कि हम विशालानगरी से आ रहे हैं। यह द्रव्य हमारा पहले उपार्जन किया हुआ है। यह लेकर अब हम लाट देश की ओर जा रहे हैं। मंत्री ने कहा कि 'यदि यह द्रव्य तुम्हारा है तो बताओ कि इस करंडक में क्या क्या वस्तु है, और उनके क्या क्या चिह्न है। दोनों इससे अज्ञात होने की वजह से क्षोभित होते हुए बोले- 'हे मंत्रीराज। यह करंडक हमारा हरण किया हुआ है। अतः आप ही इसे खोलकर देख लें।' मंत्री ने उसे खोलकर देखा तो उसमें राजनामांकित आभूषण दिखाई दिये। बहुत समय पहले चुराये गये उन आभूषणों को याद

करके मंत्री ने सोचा कि 'पहले चुराया हुआ यह द्रव्य लेकर दोनों ने पृथ्वी में निधिरूप किया होगा, अतः अब इसे कब्जे में करने पर अन्य चोर लोग भी पकड़े जायेंगे। ऐसा सोचकर मंत्री ने पूरे सार्थ को राजपुरुषों द्वारा वापिस पकड़ कर बुलाया। तब यमदूत जैसे उन रक्षकों ने उन मामा भाणजों को खूब ताड़न किया। जब अतिमार पड़ने लगी तब वे विधुर होकर बोले कि हम तो इस सार्थ के साथ कल ही आए हैं, यदि ऐसा न हो तो फिर हमको मार डालना। उस स्थान के पुरुषों ने बंधुदत्त को बताते हुए कहा कि यह पुरुष तो इस सार्थ के साथ पाँच दिन पहले भी दिखाई दिया था। तब मंत्री ने सार्थपति से पूछा कि 'क्या आप इसे जानते हैं?' सार्थपति ने कहा कि ऐसे तो कितने ही सार्थ में आते हैं और जाते हैं। उनको कौन पहचाने? यह सुनकर मंत्री अति कुपित हुआ और उन मामा भाणजे को नरकावास जैसे कारागृह में डाल दिया।

(गा. 158 से 173)

इधर चंडसेन बंधुदत्त की तलाश करते हुए पद्म अटवी में घूमा, परन्तु कहीं भी बंधुदत्त मिला नहीं। तब वह निराश होकर घर पहुँचा। तब उसने प्रियदर्शना के समक्ष प्रतिज्ञा की कि 'यदि मैं छः महिने के अंदर तुम्हारे पति की शोध न कर लूँ, तो मैं अग्नि स्नान कर लूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा करके चंडसेन ने कौशांबी और नागपुरी में बंधुदत्त की शोध के लिए अपने गुप्तचरों को भेजा। बहुत दिनों तक घूमते हुए वे वापिस लौट कर आकर बोले कि 'हम बहुत घूमे परन्तु बंधुदत्त हमें कहीं नहीं दिखाई दिया।' चंडसेन ने सोचा कि 'अवश्य ही प्रिया के विरह में उसने भृगुपात (भैरव जव) या अग्निप्रवेश करके मृत्यु प्राप्त कर ली होगी। मेरी प्रतिज्ञा को चार मास तो व्यतीत हो चुके हैं, अतः अब मैं भी अग्निप्रवेश कर लूँ क्योंकि बंधुदत्त का मिलाप होना दुर्लभ है। अथवा तो जब तक प्रियदर्शना का प्रसव न हो, तब तक राह देखूँ, पश्चात् उसके प्रसूत पुत्र को कौशांबी पहुँचा कर बाद में अग्नि प्रवेश करूँगा।

(गा. 174 से 181)

इस प्रकार चंडसेन विचार कर ही रहा था कि द्वारपाल ने आकर बधाई दी कि प्रियदर्शना ने पुत्र को जन्म दिया। पल्लि पति ने हर्षित होकर द्वारपाल को पारितोषिक दिया। तब पद्म अटवी पद्माटवी की देवी को चंडसेन ने कहा कि यदि मेरी बहन प्रियदर्शना का पुत्र के साथ एक मास तक कुशल पूर्वक रहेगी, तो मैं दस पुरुषों का बलिदान दूँगा। परन्तु जब प्रियदर्शना ने कुमार के साथ पच्चीस दिन व्यतीत किये, तब चंडसेन ने प्रत्येक दिशा में से बलिदान योग्य पुरुषों को पकड़कर लाने के लिए सेवक पुरुषों को भेजा।

(गा. 182 से 184)

बंधुदत्त ने मामा के साथ कारागृह में नारकी की आयुष्य सम छः महिने निर्गमन किये। इतने में एक दिन राजसुभटों ने रात्रि में एक बड़े सर्प को पकड़े वैसे विपुल द्रव्य के साथ एक संन्यासी को पकड़ा एवं उसे बांधकर मंत्री को सुपुर्द किया। संन्यासी के पास इतना द्रव्य कहाँ से हो? ऐसा विचार करके निश्चय किया कि यह भी जरूर कोई चोर ही होगा। तब उसे मारने का आदेश दिया। जब उसे वध स्थान ले जाया जा रहा था, तब उसने पश्चाताप पूर्वक सोचा कि मुनि का वचन अन्यथा नहीं होता। ऐसा सोचकर उसने आरक्षकों को कहा– मेरे सिवा इस शहर में किसी ने चोरी नहीं की है। मैंने चोरी कर करके पर्वत, नदी, आराम आदि भूमियों में धन छुपा दिया है। अतः जिस जिस का धन हो, उसे लौटा दो और मुझे शिक्षा (दंड) दो। रक्षकों ने ये समाचार मंत्री को दिये। उसके बताये स्थानों से धन मंगवाया तो उस रत्नकरंडक के अतिरिक्त सारा धन मिल गया। तब मंत्री ने उस संन्यासी को कहा कि 'हे कृतिन्! तेरे दर्शन और तेरी आकृति के विरुद्ध तेरा आचरण क्यों है?' यह तू निर्भय होकर कह। संन्यासी बोला कि 'जो विषयासक्त हों और अपने घर में निर्धन हों, उसे ही ऐसा काम करना योग्य लगता है। इस विषय में यदि आपको आश्चर्य लगता हो तो मेरा विशेष वृत्तांत सुनो।

(गा. 185 से 193)

पुंड्रवर्धन नगर में सोमदेव नामक ब्राह्मण का मैं नारायण नाम का पुत्र हूँ। जीवघात के मार्ग से स्वर्ग मिलता है। ऐसा लोगों को कहता था। एक

बार चोर बुद्धि से पकड़े हुए और दीन बदन वाले कितने ही पुरुष दिखाई दिये। उसे देखकर 'यह बड़ा चोर है, अतः इसे मार डालो।' ऐसा वह बोला। तब यह सुनकर नजदीक में रहे एक मुनि ने कहा, अरे! यह कैसा कष्टकारी अज्ञान है? यह सुनकर मैंने नमस्कार करके मुनि को पूछा कि क्या अज्ञान है? तब मुनि ने कहा 'दूसरों को अति पीड़ाकारी वचन बोलना और झूठा दोषारोपण देना, यही अज्ञान है। पूर्व कर्म के परिपक्व हुए विपाक से ये मनुष्य तो विचारे दुःख में पड़े हैं। उनको देखें, पहचाने बिना यह बड़ा चोर कहने को झूँठा दोष तू किसे देता है? पूर्व जन्म के किये कर्म का अवशेष फल तुझे थोड़े समय मिलेगा, अतः तू दूसरों के ऊपर मिथ्या दोषारोपण मत कर। पश्चात् मैंने उन मुनि से पूछा कि मेरे पूर्व कर्म का अवशेष फल क्या है? तब अतिशय ज्ञानी और करुणानिधि उन मुनि ने कहा, इस भरतक्षेत्र में गर्जन नामक नगर में आषाढ़ नामका एक ब्राह्मण था। उसके अच्छुका नाम की स्त्री थी। इस भव से पाँचवें भव में तू उनका चन्द्रदेव नाम का पुत्र था। तेरे पिता ने तुझे खूब पढ़ाया, तब तू विद्वान होने से वहाँ के वीर राजा को मान्य हो गया। उस समय वहाँ एक योगात्मा नाम के सद्बुद्धिमान निष्पाप संन्यासी रहते थे। वहाँ के विनीत नाम के सेठ के वीरमती नाम की बाल विधवा पुत्री थी। वह एक सिंहल नाम के माली के साथ भाग गई। उस योगात्मा संन्यासी की वह पूजा करती थी। दैवयोग से निःसंगपने से वह संन्यासी भी उस दिन कहीं चला गया। प्रथम, तो वीरमती भाग गई, ऐसा लोग कहने लगे। परन्तु योगात्मा के भी चले जाने पर सर्वत्र यह हो गया कि जरूर वीरमती योगात्मा के साथ भाग गई। ये समाचार राजदरबार में भी पहुँचे। यह सुनकर राजा ने कहा योगात्मा संन्यासी ने तो स्त्री आदि त्याग किया था। तब तूने जाकर कहा कि वीरमती उसकी पूजा करती थी, अतः दोनों भाग गए। यह बात सर्वत्र प्रसर गई तो योगात्मा पांखडी माना जाने लगा। यह सुनकर लोग उसके वैसे दोष से धर्म से श्रद्धा रहित हुए और दूसरे संन्यासियों ने योगात्मा को अपने समुदाय से अलग कर दिया। ऐसे दुर्वचन से निकाचित तीव्र कर्म बंध से तू मर कर कोल्लाक नाम के स्थान पर बकरा बना। पूर्व कर्म के दोष से तेरी जिह्वा कुंठित हो गई। वहाँ से

मरकर कोल्लाक नाम की बड़ी अटवी में तू सियार बना। वहाँ भी तेरी जीभ सड़ जाने से मृत्यु प्राप्त करके तू साकेत नगर में राजमान्य मदनदाता नाम की वेश्या के यहाँ पर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। जब तू युवा हुआ, तब एक बार मदिरापान करके उन्मत्त होकर तू राजमाता पर आक्रोश करने लगा। राजपुत्र ने तुझे रोका। तो उस पर तू उच्च स्वर से आक्रोश करने लगा। जिससे उसने तेरी जिह्वा छेद डाली। पश्चात् लज्जावशात् अनशन लेकर तूने मृत्यु का वरण किया। वहाँ से इस भव में तू ब्राह्मण बना है। परन्तु अद्यापि तेरे पूर्व कर्म भोगना थोड़ा बाकी है। यह सुनकर मुझे वैराग्य हो गया। इससे शीघ्र ही किसी अच्छे गुरु के पास जाकर संन्यासी हो गया एवं गुरु सेवा में तत्पर रहा। गुरु ने मृत्यु के समय तालोद्घाटिनी विद्या और आकाशगामिनी विद्या मुझे दी एवं शिक्षा दी कि धर्म और शरीर के रक्षण के बिना किसी भी काम में इस विद्या का प्रयोग करना नहीं। हास्य में भी कभी असत्य बोलना नहीं। यदि प्रमाद से असत्य बोला जाय तो नाभि तक जल में रहकर ऊँचे हाथ करके इस विद्या का एक हजार आठ बार जाप करना। विषयासक्ति से गुरु की शिक्षा मैं भूल गया, और मैंने अनेक विपरीत काम किये। उस उद्यान में देवालय के पास रहते हुए मैं तुमसे मृषा बोला। कल स्नान किये बिना देवार्चन करने के लिए कोई देवालय में आया, उसने मुझे तपोव्रत ग्रहण करने का कारण पूछा। तब मैंने इच्छित पत्नि के विरह का झूठा कारण बताया। उसके बाद गुरु के कहे अनुसार जल में रहकर मैंने विद्या का जाप किया नहीं। अर्धरात्रि को सागर श्रेष्ठी के घर चोरी करने को गया। दैवयोग से द्वार उघाड़े ही थे, तो मैं श्वान के जैसे सीधे घर में घुस गया और रुपा और स्वर्ण की चोरी करके बाहर निकला। तो भाग्ययोग से राजपुरुषों ने मुझे पकड़ लिया। उस समय मैंने आकाशगामिनी विद्या को खूब याद करी। परन्तु उसकी स्फुरणा हुई नहीं। यह सर्व वार्ता सुनकर मंत्री ने कहा– तेरी सर्व वस्तु मिली, पर रत्नकरंडक क्यों नहीं मिला? क्या तू उसका स्थान भूल गया? उसने कहा, जहाँ मैंने वह करंडक छुपाया था, उसकी जानकारी किसी को होने से उसका हरण कर लिया लगता है।

(गा. 194 से 225)

यह सुनकर मंत्री ने संन्यासी को छोड़ दिया और उन मामा भानजे को याद किया एवं विचार किया कि हो सकता है उन्होंने अनजाने में वह रत्नकरंडक लिया लगता है। परन्तु भय के कारण ठीक से जवाब न दे सके हो। इसलिए उनको अभय देकर पुनः पूछूं। तब उन्होंने जो यथार्थ था, वह बता दिया। तब नीतिमान् मंत्री ने उनको भी छोड़ दिया एवं उनसे खमाया। वहाँ से छूटकर दो दिन वहाँ रहकर वे आगे चले। तब तीसरे ही दिन उस चण्डसेन के पुरुष जो बलिदान के लिए पुरुष शोध रहे थे, उनके हाथ लग गए तो उनको भी अन्य बंदीवान् को साथ लेकर चंडसेना देवी के पास बलिदान के लिए लाए। इधर चंडसेन दासी और पुत्र सहित प्रियदर्शना को लेकर चंडसेन देवी का अर्चन करने के लिए आया। उस समय इस भयंकर देवी को देखने में वणिक् पुत्री समर्थ नहीं होगी, इसलिए प्रियदर्शना के नेत्रों को वस्त्र से ढक दिया। पश्चात् चंडसेन ने स्वयं पुत्र को लेकर नेत्र की संज्ञा से बलिदान के पुरुषों को लाने का सेवकों से कहा। दैवयोग से सर्वप्रथम बंधुदत्त को ही लाया गया। तब पुत्र से देवी को प्रणाम करवाकर रक्तचंदन का पात्र हाथ में देकर प्रियदर्शना को कहा कि देवी की पूजा करो। निर्दय चंडसेन ने म्यान में से खड्ग निकाला।

(गा. 226 से 234)

उस समय प्रियदर्शना दीन होकर विचार करने लगी कि मुझे धिक्कार हो, क्योंकि मेरे लिए ही इस देवी को पुरुष का बलिदान दिया जा रहा है। तो इसमें मेरी ही अपकीर्ति है तो ऐसी अपकीर्ति किस लिए लेनी? अरे क्या मैं निशाचरी हूँ। उस वक्त शुद्ध बुद्धि वाला बंधुदत्त मृत्यु को नजदीक आया जानकर नवकार मंत्र का परावर्तन करने लगा। नवकार मंत्र की ध्वनि को सुनकर प्रियदर्शना ने शीघ्र ही नेत्र उघाड़े। वहाँ तो अपने ही पति को अपने सामने पाया। तब उसने चंडसेन से कहा कि 'हे भ्राता! अब तुम सत्यप्रतिज्ञ हुए हो, क्योंकि ये तुम्हारे बहनोई बंधुदत्त ही हैं। तब चंडसेन बंधुदत्त के चरणों में गिरकर बोला कि मेरा अज्ञानपने में हुआ अपराध क्षमा करो। आप मेरे स्वामी हो और अब आप मुझे आज्ञा दो। बंधुदत्त ने हर्षित होकर प्रियदर्शना को लक्ष्य करके कहा कि इस चंडसेन ने तो तुम्हारा और

मेरा मिलाप कराया है। अतः इसका क्या अपराध है? कुछ भी अपराध नहीं है। तब बंधुदत्त ने चंडसेन को कहकर अन्य दूसरे जो पुरुष बलिदान के लिए कैद करके लाए थे, उनको छुड़ा दिया। तब चंडसेन को पूछा कि तुमने ऐसा काम किसलिए किया? तब भीलों के राजा चंडसेन ने पुरुषबलि की मानता की विगत कह सुनाई। यह सुनकर बंधुदत्त बोला कि हे चंडसेन! जीवघात द्वारा पूजा करना योग्य नहीं है, अतः अब पुष्पादि द्वारा देवी पूजा करना। आज से ही तुम हिंसा, परधन और परस्त्री का त्याग करो। मृषावाद छोड़ दो एवं संतोष के पात्र बनो। चंडसेन ने वैसा करना कबूल किया। उस समय देवी प्रकट होकर बोली कि आज से पुष्पादि पदार्थों के द्वारा ही मेरी पूजा करना। ये सुनकर अनेक भी भद्रक भावी हुआ।

(गा. 235 से 243)

प्रियदर्शना ने बालपुत्र को बंधुदत्त को दिया। बंधुदत्त ने धनदत्त को दिया एवं अपनी पत्नि को कहा कि ये मेरे मामा है। तत्काल प्रियदर्शना ने वस्त्र ढककर मामा श्वसुर को प्रणाम किया। धनदत्त ने आशीष देकर कहा कि इस पुत्र का नामकरण करना चाहिये। तब यह पुत्र जीवितदान दिलाने में बंधुओं को आनंददायक हुआ है, ऐसा सोचकर उसके माता पिता ने उसका बांधवानंद ऐसा नाम रखा। किरातराज चंडसेन मामा सहित बंधुदत्त को अपने घर ले जाकर भोजन कराया और उनका लूटा हुआ सर्व धन उनको अर्पण किया। पश्चात् अंजलीबद्ध होकर चित्रक का चर्म, चमरी गाय के बाल, हाथी दांत और मुक्ताफल आदि की उन को भेंट दी। बंधुदत्त ने उन कैदी पुरुषों को यथा योग्य दान देकर विदा किया। और धनदत्त को द्रव्य के द्वारा कृतार्थ करके उनके घर भेजा।

(गा. 244 से 252)

समर्थ बंधुदत्त प्रियदर्शना और पुत्र सहित चंडसेन को लेकर नागपुरी आया। उसके बंधुजन प्रसन्न होकर सामने आए। राजा ने बहुमानपूर्वक हस्ति पर आरुढ करवा कर उसको नगर प्रवेश कराया। विपुल दान देता हुआ बंधुदत्त अपने घर आया एवं भोजनोपरान्त बंधुओं को अपना सर्व वृत्तान्त

कह सुनाया। पर अंत में उसने सर्व को ज्ञात कराया कि 'आज तक का मुझे जो अनुभव हुआ है, उस से कहता हूँ कि 'श्री जिनशासन बिना सर्व असार है।' बंधुदत्त की ऐसी वाणी से सर्वजन जिनशासन में अनुरक्त हुए। बंधुदत्त ने चंडसेन का सत्कार करके उसको विदा किया और स्वयं बारह वर्ष तक सुखपूर्वक रहा।

(गा. 253 से 257)

एक समय शरद् ऋतु में पार्श्वप्रभु वहाँ समवसरे। बंधुदत्त विपुल समृद्धि के साथ प्रियदर्शना और पुत्र को लेकर प्रभु को वंदन करने गये। प्रभु को वंदन करके देशना सुनी। बंधुदत्त ने प्रभु से पूछा कि 'हे प्रभो! मेरी छः स्त्रियाँ विवाहोपरान्त किस कर्म के कारण मृत्यु को प्राप्त हुई। इस प्रियदर्शना का मुझे क्यों विरह हुआ? मुझे दो बार क्यों बंदीवान् होना पड़ा? वह कृपा करके कहो।'

प्रभु ने फरमाया कि 'पूर्व में इस भरतक्षेत्र में विंध्याद्रि में शिखासन नाम का तू भील राजा था।' तू हिंसा में रत और विषयप्रिय था। यह प्रियदर्शना उस भव में तेरी श्रीमती नाम की स्त्री थी। उसके साथ विलास करता हुआ, तू पर्वत के कुंजगृह में रहता था। एक बार कुछ साधुओं का वृंद मार्ग भ्रष्ट होकर अटवी में इधर उधर भ्रमण कर रहा था। वे तेरे कुंजगृह के पास आए। उनको देखकर तेरे हृदय में दया आई। तूने जाकर उनको पूछा कि 'आप इधर क्यों घूम रहे हैं?' वे बोले कि हम मार्ग भटक गए हैं। तब श्रीमती ने तुमको कहा कि इन मुनियों को फलादिक का भोजन कराने के पश्चात् मार्ग पर भेज दो क्योंकि यह अटवी दुरुत्तरा है। तुमने कंद फलादि लाकर उनके समक्ष रखे। मुनियों ने कहा कि 'ये फल हमको कल्पते नहीं है, जो वर्ण, गंध, रसादि से रहित हो, वह हमको दो।' जो बहुत काल पहले लिया हो, वैसा नीरस (अचित) फलादि हमको कल्पता है। यह सुनकर वह वैसे फलादि लाकर उनको प्रतिलाभित किया। फिर साधुओं को मार्ग बताया। तब उन्होंने धर्म सुनाकर पंच परमेष्ठी नमस्कार रूप महामंत्र देकर कहा कि 'हे भद्र! एक पक्ष में मात्र एक दिन सर्व सावद्य कर्म छोड़कर एकान्त में

बैठकर सम्पूर्ण दिन में इस मंत्र का स्मरण करना।' परन्तु उस वक्त कभी कोई तेरा द्रोह करे तो भी तुझे उन पर क्रोध नहीं करना। इस प्रकार 'धर्म का आचरण करने से तुझे स्वर्गलक्ष्मी भी दुर्लभ नहीं।' तूने ऐसा करना स्वीकार किया। तब मुनि ने वहाँ से अन्यत्र विहार किया। एक बार तू एकांत में बैठकर मंत्र का स्मरण कर रहा था कि इतने में वहाँ एक केशरी सिंह आया। उसे देखकर श्रीमती भयभीत हो गई। तब तूने 'भय मत कर' ऐसे बोलते हुए धनुष ग्रहण किया। उस समय श्रीमती ने गुरु के दिए नियम को याद कराया। इससे तू निश्चल हो गया। वह सिंह तेरा और महामति श्रीमती का भक्षण कर गया। वहाँ से मरण के पश्चात् तुम दोनों सौधर्म देवलोक में पल्योपम की आयुष्य वाले देव हुए। वहाँ से च्यव कर अपर विदेह क्षेत्र में चक्रपुरी के राजा कुरुमृंगाक के घर बालचन्द्रा रानी के पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ। श्रीमती भी वहाँ से च्यव कर कुरुमृगांक राजा का साला सुभूषण राजा की कुरुमती रानी से पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। तुम दोनों का शबरमृगांक और वसंतसेना ऐसा नाम रखा गया। अनुक्रम से दोनों अपने स्थान में युवावस्था को प्राप्त हुए। वसंतसेना तेरे गुण सुन कर तुझ पर आसक्त हुई और एक चतुर चित्रकार द्वारा चित्रित रूप पर तुझे भी उस पर अनुराग हो गया। दोनों को परस्पर अनुरक्त जानकर तेरे पिता ने तुझे उसके साथ परणा दिया। तेरे पिता के तापस हो जाने पर तू राजा बना। हे बुद्धिमान! पूर्व में भील के भव में तूने तिर्यंचों का वियोग करवा कर जो कर्म बांधा, वह तेरा इस भव में उदय आया, वह यथार्थ रीति से सुन।

(गा. 258 से 279)

उसी विजय में एक महा पराक्रमी वर्धन नाम का जयपुर नगर का राजा था। उसने निष्कारण तुझ पर कोपायमान होकर व्यक्ति भेजकर तुझे कहलाया कि 'तेरी रानी वसंतसेना मुझे सौंप दे, मेरा शासन अंगीकार कर और बाद में सुख से राज्य भोग।' यह सुनते ही तुझे क्रोध चढ़ा। लोगों ने उस समय अपशकुन होने पर तुझे बहुत रोका, तो भी तू सैन्य सहित एक गजेन्द्र पर बैठकर उससे युद्ध करने निकल पड़ा। वर्धन राजा तो तुझसे पराभव पाकर भाग गया। पश्चात् तप्त नाम का एक बलवान् राजा तेरे साथ

युद्ध करने आया। उसने युद्ध करके तेरी सेना को क्षीण कर दिया और तुझे जीव से मार डाला। उस समय रौद्र ध्यान के वश से तू मर कर छठी नरक में नारकी हुआ। तेरे विरह से पीड़ित वसंतसेना भी अग्नि में प्रवेश करके मृत्यु को प्राप्त हुई और वह भी नरक भूमि में उत्पन्न हुई। वहाँ से निकलकर तू पुष्कर वर द्वीप के भरतक्षेत्र में एक निर्धन पुरुष के घर पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ और तेरे जैसी ही जाति में वसंतसेना भी नरक में से निकलकर पुत्री रूप में उत्पन्न हुई। यौवनवय में तुम दोनों का विवाह हुआ। दुःख का द्वार दारिद्र होने पर भी तुम दोनों निरन्तर क्रीड़ा करने लगे। एक वक्त तुम दोनों घर में थे, इतने में जैन साध्वियाँ तुमको दिखाई दी। तब तुम उठकर आदर और भक्ति से अन्नपान द्वारा प्रतिलाभित किया। बाद में उनको उनके स्थान संबंधी बात पूछने पर वे बोली।

(गा. 280 से 288)

बालचंद्रा नामक हमारी गणिनी है और वसुश्रेष्ठी के घर के पास हमारा उपाश्रय है। तब दिन के अंत भाग में मन में शुभ भाव धारण करके तुम वहाँ गये। तब गणिनी बालचंद्रा ने तुमको धर्म सुनाया, इससे तुमने गृहस्थ धर्म ग्रहण किया। वहाँ से मरणोपरान्त तुम दोनों ब्रह्मदेवलोक में नव सागरोपम की आयुष्यवाले देव बने। वहाँ से च्यवकर तुम इस भव में उत्पन्न हुए हो। पूर्व भील के भव में तुमने तिर्यंच प्राणियोंको वियोग कराया था, साथ ही दुःख दिया था। उस समय यह तुम्हारी स्त्री अनुमोदना करती थी उस कर्म के विपाक से इस भव में तुमको परिणीत स्त्रियों का विनाश, विरह, बंधन और देवी को बलिदान के लिये बंदी होना, आदि वेदनाएँ प्राप्त हुई, क्योंकि 'कर्म का विपाक महा कष्टकारी है।'

(गा. 289 से 293)

पश्चात् बंधुत्व ने पुनः पार्श्वनाथ प्रभु को नमस्कार करके पूछा कि, 'अब यहाँ से हम कहाँ जायेंगे?' और हमको अभी कितने भव करने पडेंगे। प्रभु ने कहा कि "तुम दोनों यहाँ से मरकर सहस्रार देवलोक में जाओगे। वहाँ से च्यवकर उस पूर्व विदेह में चक्रवर्ती बनोगे और यह तेरी स्त्री पट्टरानी बनेगी। उस भ्पव में तुम दोनों चिरकाल तक विषय सुख भोगकर दीक्षा लेकर

सिद्धि को प्राप्त करोगे।'' प्रभु के इन वचनों को सुनकर बंधुदत्त और प्रियदर्शना ने साथ में तत्काल प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की।

(गा. 294 से 297)

एक दिन श्री पार्श्वनाथ प्रभु नवनिधि के स्वामी ऐसे एक राजा के नगर के पास में समवसरे। यह समाचार सुनकर वह राजा प्रभु को वंदन करने के लिए आया। प्रभु को वंदन करके उसने पूछा ''हे प्रभो! पूर्व जन्म के किस कर्म से यह विपुल समृद्धि मुझे प्राप्त हुई?'' प्रभु ने फरमाया–महाराष्ट्र देश में हेल्लूर नामके गांव में पूर्व भव में तू अशोक नाम का माली था। एक दिन पुष्प बेचकर तू घर जा रहा था, यह देखकर तू उसके घरमें गया। वहां अर्हन्त का बिंब देखकर तू छाबड़ी में पुष्प ढूंढने लगा। उस समय नव पुष्प तेरे हाथ में आए। वे पुष्प तूने अतिभाव से प्रभु के ऊपर चढ़ाए, इससे तूने बहुत पुण्योपार्जन किया। एक वक्त तूने प्रियंगु वृक्ष की मंजरी राजा को भेंट की। इससे प्रसन्न होकर राजा ने तुझे लोक श्रेणी के प्रधान की पदवी दी। वहाँ से मृत्यु के पश्चात् उसी नगर में नवकोटि द्रव्य का अधिपति हुआ। वहाँ से मृत्यु प्राप्त कर उसी नगर में नवकोटि रत्नों का स्वामी हुआ और फिर वहाँ से मरकर तू इस भव में नवनिधि का स्वामी राजा हुआ है। अब यहाँ से अनुत्तर विमान में उत्पन्न होगा। प्रभु की इस प्रकार की वाणी सुनकर राजा के मन में अत्यन्त शुभ भावना उत्पन्न हुई, इससे उसने तत्काल प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की।

(गा. 298 से 310)

इस प्रकार विहार करते हुए श्री पार्श्वनाथ प्रभु के सोलह हजार महात्मा साधु, अड़तीस हजार साध्वियाँ, तीन सौ पचास चौदह पूर्वधर, एक हजार चार सौ अवधि ज्ञानी, साढ़े सात सौ मनःपर्यवज्ञानी, एक हजार केवलज्ञानी, ग्यारह सौ वैक्रिय लब्धि वाले, छः सौ वाद लब्धि वाले, एक लाख चौसठ हजार श्रावक और तीन लाख और सतत्तर हजार श्राविकाएँ इस प्रकार के केवलज्ञान के दिन के पश्चात् परिवार हुआ। पश्चात् अपना निर्वाण समय निकट जानकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु सम्मेतगिरि पर पधारे। वहाँ अन्य तैंतीस

मुनियों के साथ भगवंत ने अनशन ग्रहण किया। प्रांत में श्रावण मास की शुक्ल अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में जगद्गुरु श्री पार्श्वनाथ प्रभु तैंतीस मुनियों के साथ मोक्ष पद को प्राप्त किया।

(गा. 311 से 317)

गृहस्थ जीवन में तीस वर्ष और व्रत पालन में सत्तर वर्ष इस प्रकार सौ वर्ष की आयुष्य श्री पार्श्वनाथ प्रभु ने भोगी। श्री नेमिनाथ प्रभु के निर्वाण के पश्चात् तियासी हजार सात सौ पचास वर्ष व्यतीत होने पर श्री पार्श्वनाथ प्रभु मोक्ष पधारे। उस समय शक्रादि इन्द्रों ने देवताओं को साथ में लेकर सम्मेतगिरि पर आए और अत्यन्त शोका क्रान्त रूप से उन्होंने श्री पार्श्वनाथ प्रभु का उत्कृष्ट रूप से निर्वाण महोत्सव किया।

(गा. 318 से 320)

तीन जगत् में पवित्र ऐसे श्री पार्श्वनाथ प्रभु के चरित्र को जो श्रद्धालु होकर श्रवण करता है, उनकी विपत्तियाँ दूर हो जाती है और उनको अद्भुत संपत्ति प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, परन्तु अंत में परम पद भी प्राप्त होता है।

(गा. 321)

नवम पर्व समाप्त

श्री मक्षी पार्श्वनाथ तीर्थ
वैशाख कृष्णा दसमी

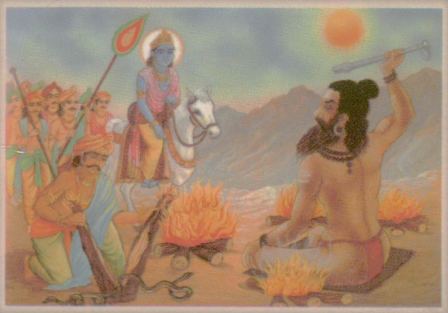

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर
13ए, गुरुनानक पथ, मेन मालवीय नगर, जयपुर
फोन : 0141-2524827, 2520230
E-mail : prabharati@gmail.com
Web-Site : prakritbharati.net

श्री जैन श्वेताम्बर नाकोड़ा पार्श्वनाथ तीर्थ,
मेवानगर-344025. स्टेशन - बालोतरा
जिला - बाड़मेर (राजस्थान)
E-mail : nakodatirth@yahoo.com

ISBN 978-93-81571-65-1
9 789381 571651
₹ 150.00